ओ३म्

वेद प्रार्थना

प्रत्येक दिन वेद मन्त्रों का स्वाध्याय करने हेतु ३१ मन्त्रों की व्याख्या

(द्वितीय–भाग)

ज्ञानेश्वरार्यः

दर्शनाचार्य *M.Com.*

प्रकाशक

वानप्रस्थ साधक आश्रम

आर्यवन, रोजड़, पत्रा. सागपुर, जि. साबरकांठा (गुज.) ३८३३०७

दूरभाष : (०२७७०) २८७४१७, २९१४९६, २९१५५५

E-mail : darshanyog@gmail.com Website : www.darshanyog.org

११११२२१

पुस्तक : वेद प्रार्थना (द्वितीय-भाग) (Ved Praarthanaa)

लेखक : ज्ञानेश्वर आर्य

प्रकाशन तिथि : सितम्बर २०१०, श्रावण, २०६८

संस्करण : प्रथम

मूल्य : १५-०० रुपये

मुख्य वितरक

आर्य रणसिंह यादव

द्वारा डा. सद्गुणा आर्या

'सम्यक्', कर्मचारी सोसायटी के पास,

गांधीग्राम, जूनागढ, गुजरात–३६२००१.

प्राप्तिस्थान

१. **आर्यसमाज मंदिर,** महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, कांकरिया, अहमदाबाद.

२. **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द,** ४४०८, नई सड़क, दिल्ली-६.

३. **आर्ष गुरुकुल महाविद्यालय,** खर्राघाट, नर्मदापुरम्, होशंगाबाद (म.प्र.)

४. **ऋषि उद्यान,** आना सागर, पुष्कर रोड, अजमेर (राजस्थान) पिन-३०५००१

५. **गुरुकुल आश्रम,** आमसेना, खरियार रोड, जिला नवापारा, (उड़ीसा)

६. **श्री चंद्रेश आर्य,** ३१०-बी, साधु वासवाणी सोसा., गोपालपुरी, गांधीधाम (गुज.)

७. **आर्य समाज मन्दिर,** पोरबंदर, राजकोट, भरुच, मोरबी, टंकारा, जूनागढ़, गांधीनगर, आणंद, जामनगर आदि ।

८. **आर्य प्रतिनिधि सभा,** १५, हनुमान रोड, दिल्ली ।

९. **श्रुति न्यास,** सी-७३, सै.-१५, राउरकेंला (उडीसा) ।

प्राक्कथन

वेद प्रार्थना (प्रथम भाग) अध्येताओं को अच्छी लगी और एक ही वर्ष में २ संस्करण (१०,००० प्रतियाँ) प्रकाशित करवाकर वितरित करा दी और दूसरे भाग के लिए भी स्वाध्यायशील महानुभाव मांग करने लगे, किन्तु विद्यालय तथा आश्रम के दायित्वों का आधिक्य होने के कारण चाहते हुए भी लिख नहीं पा रहा था। इसके लिए मुझे भीड़ और व्यस्तता से रहित शान्त, एकान्त वातावरण तथा समय की अपेक्षा थी। अतः एक दिन योजना बनाकर एक सप्ताह के लिए निकल पड़ा और अलखनन्दा (गंगा) के किनारे हिमालय की पर्वत श्रृंखलाओ से घिरे बद्रीनाथ क्षेत्र में चला आया और प्रतिदिन एक मन्त्र की व्याख्या लिखने का संकल्प कर लिया।

आज के परिप्रेक्ष्य में ३१ मन्त्रों का चयन करके व्याख्या लिखना प्रारम्भ कर दिया। मन्त्र नये नहीं हैं किन्तु भाव नये हैं। वन्दनीय विप्रवर विद्वानों ने इन्हीं मन्त्रों पर उत्तम व्याख्याएँ लिखी हैं वे हमारे प्रेरक और दिग्दर्शक हैं। मैं उन्हें नमन करता हूँ। उन्हीं के भावों को कुछ नया रूप देने का प्रयास किया है। मनुष्य का स्वभाव है कि उसे कुछ नया चाहिए, एक ही प्रकार के रंग-रूप, आकार, स्वाद, गंध वाले खाद्य पदार्थ से व्यक्ति ऊब जाता है, वैसे ही मन्त्र के विषय में भी होता है। वेद मन्त्र के भाव बहुत गम्भीर होते हैं तथा उनके अर्थ भी अनेक विषयों को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार के किये जा सकते हैं।

अपनी अल्प बुद्धि से तथा जैसा मेरा ज्ञान-विज्ञान है वैसी मन्त्रों की संक्षिप्त व्याख्या की है। संभव है किन्हीं मन्त्रों में अवान्तर या गौण विषय को प्रधानता दे दी गई हो किन्तु किसी मन्त्र का अनर्थ न हो ऐसी सावधानी रखी है। मन्त्र को पढ़कर ईश्वर प्रणिधान करके हृदय से जो भाव निकले उनको शब्दों में लिपिबद्ध कर दिया है। अध्येता को किसी भी प्रकार का उत्साह और प्रेरणा मिलेंगे तो मैं समझुंगा की मेरा परिश्रम सार्थक हुआ है। कहीं पर किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो विज्ञ सज्जन बताकर उपकृत करेंगे। परमपिता परमेश्वर से विनम्र प्रार्थना है कि नित्यप्रति वेद के स्वाध्याय की वैदिक परम्परा धार्मिक परिवारों में पुनः प्रचलित हो इसी आशा तथा विश्वास के साथ..

बद्रीकाश्रम,
(हिमालय की उपत्यका) **उत्तरांचल**
दिनांकः २३/०६/२०१०

शुभेच्छुक
ज्ञानेश्वरार्यः

अनुक्रमणिका

	विषय	पृष्ठ संख्या
❍	**प्राक्कथन**	३
(१)	गयस्फानो अमीवहा	५
(२)	यन्मे छिद्रं चक्षुषो	८
(३)	अन्ति सन्तं	११
(४)	तेजोऽसि तेजो	१४
(५)	या मा लक्ष्मीः	१७
(६)	सं गच्छध्वं सं वदध्वं	१९
(७)	असुर्य्या नाम	२२
(८)	अश्मन्वती रीयते	२५
(९)	दृते दृंह मा मित्रस्य	२८
(१०)	रथे तिष्ठन्नयति	३१
(११)	अधः पश्यस्व	३४
(१२)	यतो यतः समीहसे	३७
(१३)	ऊर्जं वहन्तीरमृतं	४०
(१४)	यश्चकार न शशाक	४३
(१५)	व्रतेन दीक्षामाप्नोति	४६
(१६)	त्र्यायुषं जमदग्ने	४८
(१७)	समिधाग्निं दुवस्यत	५१
(१८)	स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्	५४
(१९)	ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं	५७
(२०)	सहस्त्रशीर्षा पुरुषः	६०
(२१)	परोपेहि मनस्पाप	६३
(२२)	पुनरेहि वाचस्पते	६६
(२३)	महे च न त्वामद्रिवः	६९
(२४)	न किल्बिषमत्र नाधारो	७२
(२५)	एतद् वा उ स्वादीयो	७५
(२६)	हृत्सु पीतासो युध्यन्ते	७८
(२७)	अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व	८१
(२८)	उपस्थास्ते अनमीवा	८४
(२९)	यत्र ब्रह्म च क्षत्रं	८७
(३०)	विजानीहि आर्यान्	९०
(३१)	समानो मन्त्रः	९४

(१)

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव।। ऋग्वेद १/६/२१/१२

शब्दार्थः – **गयस्फानो** – ईश्वर धन सम्पति को बढ़ाने वाला है, **अमीवहा** – वह शरीरिक, मानसिक इन्द्रिय जन्य सभी रोगों को दूर करने वाला है, **वसुवित्** – वह सर्वव्यापक तथा सर्वज्ञ है, **पुष्टिवर्द्धन** – शरीर, आत्मा की पुष्टि करने वाला है, **सोम** – हे ! परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर, **नः** – आप हमारे, **सुमित्रः** – परम मित्र, **भव** – बन जाओ।

भावार्थ – ईश्वर को क्यों मानना चाहिए, क्यों उसका ध्यान करना चाहिए, ऐसा जब प्रश्न बच्चों से करते हैं तो प्रायः उत्तर मिलता है कि हमें पता नहीं है। माता-पिता ने कहा अथवा लोग ईश्वर का ध्यान करते हैं इसलिए हम भी उसका ध्यान करते हैं वे स्पष्ट, सन्तोषजनक, प्रामाणिक उत्तर नहीं दे पाते हैं। जब हमें यह पता ही नहीं है कि ईश्वर से हमें क्या मिलेगा? तो फिर हम पूर्ण श्रद्धा, अटूट रुचि, महान् त्याग, घोर तपस्या और दृढ़ विश्वास के साथ ईश्वर का ध्यान कैसे कर पायेंगे। यदि कुछ होगा तो वह मात्र औपचारिकता, खानापूर्ति ही होगी।

इस मन्त्र में बताया गया है कि ईश्वर से हमें क्या मिलता है? सर्व प्रथम बताया गया कि वह **गयस्फानः –** धन को बढ़ाने वाला है। कैसा धन? रुपया पैसा सोना आदि नहीं, जिस धन से रुपया पैसा मिलता है वह धन। वह धन कैसा है? वह धन है- बुद्धि, साहस, पराक्रम, उत्साह, श्रद्धा, संयम, धैर्य, पुरुषार्थ। इस आन्तरिक गुण रूपी धन के बिना रुपया-पैसा स्वरूप धन नहीं मिलता है। रुपया-पैसा, सोना-चांदी, दुकान, गाड़ी, वस्त्र व भोजन आदि धन तो परिणाम है, वास्तविक प्रारंभिक धन तो आन्तरिक विशिष्ट गुण ही हैं। इन विशिष्ट आत्मीय गुणों को प्रदान करने

वाला, इनको प्रवृद्ध करने वाला, इन्हें परिष्कृत करने वाला है वह ईश्वर। इसलिए बाह्य-दृश्यमान धनों की प्राप्ति से पूर्व हमें आन्तरिक धनों की प्राप्ति हेतु ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए। आन्तरिक गुणों की प्राप्ति हो जाने पर ये बाह्य धन तो सहज, स्वतः ही शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं।

मन्त्र में दूसरी बात बतायी गई है कि वह परमेश्वर **अमीवहा** -रोगों को दूर करनेवाला है, नष्ट करने वाला है, वह चिकित्सक है, वैद्य है। तो क्या ईश्वर हमें अपने रोगों को दूर करने हेतु औषधि का नाम बताता है। हाँ, न केवल औषधि का नाम बताता है अपितु यह भी बताता है कि रोग उत्पन्न ही क्यों हुआ है, रोग की उत्पत्ति के कारणों को बतलाने के साथ-साथ रोग उत्पन्न न होने पावें इसका उपाय भी बताता है। रोगों की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं अज्ञान, आलस्य, प्रमाद, लापरवाही, असंयम, असावधानी, अव्रत आदि। रोग केवल शारीरिक ही नहीं होते हैं अपितु मानसिक भी होते हैं और इन मानसिक दोषों को भी नष्ट करनेवाला परमात्मा है।

मन्त्र में तीसरी बात बतायी गयी है कि वह ईश्वर **वसुवित्** – सर्वव्यापक है तथा सब कुछ को जानने वाला है। हमने अब तक होश संभालने के बाद जितने भी अच्छे-बुरे कर्म किये हैं, वर्तमान में कर रहे हैं तथा आगे भविष्य में करेंगे उन सब को वह जान लेता है, क्योंकि वह हर जीव का अन्तर्यामी है।

अन्त में चौथी बात बतायी गयी है कि वह **पुष्टिवर्द्धनः** है। पुष्टि वर्धक का तात्पर्य है कि वह गुणवत्ता को बढ़ाने वाला है जो कुछ हमारे पास है उसमें जो न्यूनता है, विकृति है, अस्त-व्यस्तता है, उसे वह दूर करता है। इसे हम दूसरे शब्दों में परिपूर्णता, सुन्दरता, आकर्षण, विशिष्टता कह सकते हैं।

सभी लोगों के पास शरीर, रंग, रूप, आकार, धन, बल तो होते हैं किन्तु उनमें किसी न किसी प्रकार की कमी रहती है। वे पूर्ण नहीं होते हैं। यह अपूर्णता हमें स्वयं को खटकती है, अखरती

है। उस अपूर्णता को ईश्वर पूर्ण बनाता है। कैसे पूर्ण बनाता है? अपने विशिष्ट ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों को देकर।

इसलिए मन्त्र के अन्त में प्रार्थना की गयी है समस्त ऐश्वर्य प्राप्ति में सहायक बनने वाले ईश्वर ! आप हमारे मित्र बन जाओ। क्योंकि मित्र ही मित्र की सहायता करता है। जब ईश्वर को हम अपना परममित्र बना लेंगे तो वह हमारी निश्चित ही हर प्रकार से सहायता करेगा। हममें ऐसा ज्ञान, शक्ति, साहस, पराक्रम भर देगा कि जिससे हम हर प्रकार की धन, सम्पत्ति को प्राप्त कर लेंगे। सभी शारीरिक, मानसिक रोगों को दूर कर लेंगे और जीवन को उत्कृष्ट बना लेंगे। आओ धार्मिक, स्वाध्यायशील सज्जनो ! उस परम ऐश्वर्य देने वाले ईश्वर को अपना घनिष्ट मित्र बनायें। उससे बार-बार प्रार्थना करें कि हे प्रभो ! अब तो आप अपनी कृपा से हमारे मित्र बन जाओ, बने रहो।

★★★

(२)

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शन्नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः।।

यजुर्वेद ३६/३

शब्दार्थः - **यत् मे** - जो मेरी, **छिद्रम्** - कमी है, **चक्षुषः** - आँख आदि इन्द्रियों की, **हृदयस्य** - बुद्धि की, **मनसः वा** - अथवा मन की **अति तृण्णम्** - दोष-विकृति है, **बृहस्पति** - हे संसार के पालनहार, **मे** - मेरी उन सभी कमियों को, **दधातु** - ठीक कर दो, **भुवनस्य यः पति** - संसार का जो स्वामी है वह, **नः** - हमारे लिए, **शम्** - कल्याणकारी, **भवतु** - होवे।

भावार्थ - हे जीवन दाता ! मैंने गीता, रामायण, दर्शन, उपनिषद्, वेद आदि ग्रन्थों को पढ़ा, किन्तु मन की पुस्तक को तो कभी खोलकर देखा ही नहीं। मन में उठने वाली अनिष्ट पापवृत्तियों की ओर तो मैंने कभी दृष्टि ही नहीं डाली। अन्तःकरण में कितने बुरे-बुरे विचार उत्पन्न होते हैं। इनकी पूरी गणना कभी की ही नहीं। हे देव ! मैं न देखने योग्य को देखता हूँ, न सुनने योग्य को सुनता हूँ, न खाने योग्य को खाता हूँ, न भोगने योग्य को भोगता हूँ, न विचारने योग्य को विचारता हूँ। न जाने इस जीवन में कितने घण्टे, कितने दिन, कितने सप्ताह, कितने वर्ष तक इन क्लिष्ट वृत्तियों को उठाता रहा हूँ। न जाने कितना पाप संग्रह कर लिया है। जब इन सबका आंकलन कर रहा हूँ तो शरीर कांप उठता है, मन घबराने लगता है और मेरी आत्मा अशान्त हो जाती है।

शान्त एकान्त स्थान में आँखें बन्द करके अन्तःकरण में झांकता हूँ तो पापों की गठड़ियाँ भरी हुई प्रतीत होती हैं। इन

पापवृत्तियों ने कुसंस्कारों के चट्टानों की कितनी ऊँची तह जमा दी है और ये चट्टाने इतनी सुदृढ हो गयी हैं कि सामान्य सत्संग, उपदेश, स्वाध्याय, आत्मचिन्तन व निदिध्यासन से किञ्चित् मात्र भी उखड़ती हुई प्रतीत नहीं होती है।

हे जीवन के स्वामी प्रभुदेव ! इन अविद्या, अनीति, कुसंस्कारों के पहाड़ों व चट्टानों को बनाने वाला मैं ही हूँ। मैंने ही इन संस्कारों की प्रवृद्धि की, इनको पाला-पोषा है, इनकी रक्षा की है। इनसे अधर्म, अन्याय, अत्याचार करता रहा हूँ और सतत् जीवन में भय, चिन्ता, असन्तोष, बन्धन, दुःखों की अनुभूति करता रहा हूँ। किन्तु अब मैं इस कुप्रवृत्तियों वाले जीवन से ऊब गया हूँ। प्रभो ! अब सच्ची श्रद्धा, आस्था, विश्वास के साथ आपकी शरण में आया हूँ। आज से मैं सर्वात्मा समर्पण करता हूँ और गद्-गद् हो कर आपसे विनती करता हूँ कि बुरा देखने, बुरा सुनने, बुरा विचारने की जो मेरी विषैली पापवृत्तियाँ हैं उनको समाप्त कर दो।

जब मैं एकान्त में जा कर आत्मनिरीक्षण करता हूँ तो पाता हूँ कि कैसे मैं मूढ़, छल, कपट का आश्रय लेकर अपने स्वार्थ के लिए औरों को छलता रहा हूँ, उन्हें धोखा देता रहा हूँ। जो मुझे अपना हितैषी मानते हैं, मुझे भला व्यक्ति समझते हैं, अपना आत्मीय मानते हैं, सच्चा मित्र, भाई, सहयोगी, पवित्र, श्रेष्ठ सज्जन, परोपकारी मानते हैं उन्हीं को मैं धोखा देता रहा हूँ। प्रभो ! मैं अन्दर से ऐसा नहीं हूँ जैसा लोग मानते हैं, समझते हैं। मैं तो उनके विचारों, मान्यताओं से विपरीत बूरा हूँ, स्वार्थी हूँ, ढोंगी हूँ, पाखण्डी हूँ, बहुरुपिया हूँ। हे अन्तर्यामी ! आप तो जानते ही हैं कि मैं इन सब को धोखा देता आया हूँ। आपसे क्या छिपा हुआ है।

किन्तु अब मैं इन सब दुष्ट प्रवृत्तियों और अनिष्ट कुवासनाओं के परिणामों, प्रभावों व फलों का अनुमान लगाकर सिहर जाता हूँ। अब इन समस्त चेष्टाओं को एकदम समाप्त करना चाहता हूँ।

इनके उद्गम कारणों को समूल उखाड़ देना चाहता हूँ। हे महान् गुणधर्म स्वभाव के सागर ! हे जगत् पिता ! आपसे विनम्र प्रार्थना है कि नेत्र, श्रोत्र, मन, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ आदि समस्त ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों की कुप्रवृत्तियों को अवरुद्ध करने का साहस, बल, परिश्रम मेरे में उत्पन्न कर दो। कोई भी विचार, वाणी, कर्म की वृत्ति अशुभ न हो, अहितकर न हो। यह सब आपकी सहायता के बिना असम्भव है। अतः आपसे प्रार्थना है कि तत्काल इतना ज्ञान-विज्ञान, बल, साहस, पराक्रम मुझे प्रदान करें कि मैं इन न्यूनताओं, दोषों, त्रुटियों, पाप वासनाओं को समाप्त कर दूँ और पवित्र बनकर आपके दर्शन के पात्र बन जाऊँ। यही आपसे विनम्र प्रार्थना है। इसे आप अपनी कृपा से ही शीघ्र पुरी करो।

★★★

(३)

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।।

अथर्ववेद १०/८/३२

शब्दार्थः – **अन्ति सन्तम् न जहाति** – अत्यन्त निकट, अन्दर रहनेवाले (ईश्वर से) मनुष्य कभी भी अलग नहीं हो सकता, **अन्ति सन्तम् न पश्यति** – उस अन्दर रहने वाले ईश्वर को आँखों से देख भी नहीं सकता है, **देवस्य पश्य काव्यम्** – उस ईश्वर की कृति (वेद और संसार) को देखो, **न ममार न जीर्यति** – जो न कभी मरता है न कभी बूढ़ा होता है।

भावार्थ – जीवात्मा के सर्वाधिक निकट ईश्वर है। उससे अधिक निकट और कोई पदार्थ नहीं है, निकट ही नहीं, बल्कि वह तो आत्मा के अन्दर है, अन्तर्यामी है, आत्मा का भी आत्मा है और वह अन्तर्यामी अनादि काल से आत्मा के साथ है और अनन्त काल तक साथ ही रहेगा। कभी भी उससे अलग नहीं था, न कभी अलग होगा। जीवात्मा चाहे तो भी उसके साम्राज्य से भाग नहीं सकता है, क्योंकि वह अन्दर रहता हुआ भी अनन्त है। देश की दृष्टि से भी और काल की दृष्टि से भी।

एक आश्चर्य यह है कि इतने सन्निकट रहनेवाले, अनादि काल से साथ में रहने वाले, अन्दर रहने वाले परमात्मा को यह एकदेशी सूक्ष्म आत्म-शक्ति जीव अपनी आँखों से देख भी नहीं सकता है। जीवात्मा की ये नेत्रेन्द्रिय तो अपने गोलक को भी नहीं देख पाती है। इन नेत्रों की क्षमता केवल बाहर की रूपवान आकार वाली वस्तुओं को ही देखने की है इसलिए इन नेत्रों का विषय ईश्वर नहीं है। जो इन नेत्रादि इन्द्रियों से परमेश्वर के स्वरूप को देखना चाहता है वह तो नादान है, भोला है।

हाँ, नेत्रों से परमेश्वर के कृति कार्य को तो देखा जा सकता है। यह कार्य दो प्रकार का है। एक वाणी रूप = वेद काव्य तथा दूसरा क्रिया रूप यह दृश्य = संसार। वेद, काव्य का विषय है। वेद ज्ञान सुना जा सकता है और दृश्य कृति संसार है। जिसे आंखों से देखा जा सकता है। वेदवाणी तथा दृश्यमान संसार दोनों ईश्वर के कार्य हैं। इन दोनों कार्यों से कर्त्ता ईश्वर का अनुमान लगाया जा सकता है।

ईश्वर का कार्य – वेद ज्ञान ईश्वर के ज्ञान में सदा बना रहता है। सृष्टि को बनाकर ईश्वर इसे शब्द रूप में ऋषियों को प्रदान करता है। ये ऋषि इस शब्द रूप वेद को लिपि बद्ध करके नेत्र का विषय बना देते हैं। अरूप को रूप प्रदान कर देते हैं। यह ऋषियों का महान् विज्ञान या देन है। महान् आश्चर्य होता है कि रूप को देखकर वाणी बोलने लग जाती है। वाणी को सुनकर उसे लिपिबद्ध किया जा सकता है।

मनुष्यों के पास विद्यमान शब्दरूप वेद या लिपिबद्ध किया पुस्तकरूप वेद तो कदाचित् नष्ट भी हो सकता है किन्तु ईश्वर के पास विद्यमान वेद सदा बना रहता है। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य के पास आता है और प्रलय में उनके पास नहीं रहता है। फिर भी ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष तक तो सृष्टि में मनुष्यों के पास भी वैसे का वैसा ही बना रहता है।

ऐसे ही यह संसार ४ अरब ३२ करोड वर्ष तक सतत बना सहता है। बीच में नष्ट नहीं होता। वेद और ब्रह्माण्ड इतने विस्तृत और विशाल हैं कि प्रत्येक दिन इनमें नई-नई वस्तुएं और ज्ञान-विज्ञान अनुभव में आते रहते हैं। चारों वेदों के २० हजार से भी अधिक मन्त्रों में अनन्त ज्ञान-विज्ञान सूत्ररूप में भरा हुआ है। एक अल्प जीवात्मा का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह इस अथाह अनन्त ज्ञानराशि का पूर्ण रूप से अवगाहन कर ले। सम्पूर्ण जीवन लगाकर भी मनुष्य कुछ ही ज्ञान के बिंदु प्राप्त कर पाता है।

इसी प्रकार ईश्वर का दूसरा दृश्यरूप विशाल काव्य-ब्रह्माण्ड भी चित्र-विचित्र स्थितियों से परिपूर्ण है। ब्रह्माण्ड को छोड़ें, एक छोटी सी पृथ्वी पर भी न जाने इतनी आश्चर्यजनक अद्भुत रचनाएँ हैं कि एक मनुष्य सम्पूर्ण जीवन लगा कर भी इन सबका परिज्ञान नहीं कर सकता है, वह थक जाता है, हार मान लेता है। हाँ, वेद और सृष्टि को देख कर मनुष्य को यह तो बोध हो जाता है कि इतने बड़े व विशाल वेद तथा सृष्टि को बनाने वाला ईश्वर कितना महान् होगा। ईश्वर की अनुभूति = दर्शन तो अध्यात्म शास्त्रों में वर्णित योग-समाधि विद्या के माध्यम से योगी ही आत्मा द्वारा अपने हृदय में करते हैं। किन्तु संसार को देखकर तथा वेद को पढ़कर ईश्वर के विषय में आनुमानिक ज्ञान तो सामान्य बुद्धिमान् भी कर लेता है और उसको अपना सच्चा माता, पिता, गुरु, आचार्य, राजा, न्यायाधीश मानकर अपने जीवन को पवित्र करके महान् बना सकता है।

हे प्रभुदेव! दया करो, हमारा वरण करो हमें वह अध्यात्म विद्या प्रदान करो जिससे समाधि लगाकर आपकी अनुभूति अपने हृदय, आत्मा में करके, दुःख रूपी बन्धन से छूट जायें और अन्यों को भी छुड़ाने हेतु प्रेरणा प्रदान करें।

★★★

(४)

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि।।

यजुर्वेद १९/९

शब्दार्थः – **तेजः असि** – हे परमेश्वर! आप तेज स्वरूप हैं, **तेजः मयि धेहि** – मुझे भी तेजस्वी बनाओ। **वीर्यम् असि** – आप वीर्यवान् हैं, **वीर्यम् मयि धेहि** – मुझे भी वीर्यवान् बनाओ। **बलम् असि** – आप महाबली हैं, **बलम् मयि धेहि** – मुझे भी बलवान् बनाओ। **ओजः असि** – आप ओजस्वी हैं, **ओजः मयि धेहि** – मुझे भी ओजस्वी बनाओ। **मन्युः असि** – आप दोषों पर क्रोध करने वाले हैं, **मन्युम् मयि धेहि** – मुझे भी दोषों पर क्रोध करने वाला बनाओ। **सहः असि** – आप सहनशील हैं, **सहोः मयि धेहि** – मुझे भी सहनशील बनाओ।

भावार्थ – प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में पदे-पदे धन, रूप, प्रतिष्ठा, सम्मान से सम्बन्धित प्रलोभन उपस्थित होते ही रहते हैं। सामान्य व्यक्ति ऐसे अवसरों पर धर्म, नीति-नियम, विधि-विधान, व्रत-संकल्प, अनुशासन के आदर्शों से च्युत होकर देर सवेर पतन को प्राप्त हो ही जाता है। विरले व्यक्ति ही ऐसी परिस्थितियों में अडिग होकर, बिना घबराये सन्मार्ग पर डटे रहते हैं चाहे उनकी कितनी ही हानि क्यों न हो, प्राण भी क्यों न चले जाएं। ऐसे ही व्यक्ति तेजस्वी होते हैं और यह तेज परमपिता परमात्मा से ही, उसकी उपासना करने से उपलब्ध होता है और कोई साधन या उपाय नहीं है।

शास्त्रकारों ने शरीर में सर्वोत्कृष्ट और मूल्यवान् पदार्थ वीर्य को माना है। जो निर्वीर्य या हीनवीर्य या अल्प वीर्यवान् होता

है वह रोगी, विकृत, भद्दा, कुरूप, अशक्त, निराश होता है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा सर्वकल्याणार्थ, परोपकारी, सार्वजनिक विशिष्ट कार्यों को करने की बात दूर रही अपितु वह अपने जीवन का भी ठीक पालन-पोषण नहीं कर सकता है। इसके विपरीत ऊर्ध्वरेता-वीर्यवान् व्यक्ति शारीरिक दृष्टिकोण से हर प्रकार से समर्थ होने के कारण सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि प्रतिकूलताओं को सहन करके भी अपनी सभी योजनाओं को, लक्ष्यों को प्राप्त कर लेता है।

हर प्रकार के शारीरिक बल से युक्त होने पर भी अनेक बार भयंकर विरोध, आपत्ति, बाधा के उपस्थित हो जाने पर व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है, अपनी सर्वस्व हानि, अपकीर्ति अथवा मृत्यु आदि के भय से घबराकर सत्य, धर्म, न्याय के पथ को त्याग देता है। इसके विपरीत आत्मीय बल वाला व्यक्ति पहाड़ के समान दुःख उपस्थित हो जाने पर भी घबराता नहीं है। अपने लक्ष्य की ओर निरंतर बढ़ता ही रहता है, बाधायें, कष्ट, उसके उत्साह को कम नहीं करते हैं, पराक्रम को नष्ट नहीं करते हैं, बल्कि वह अधिक साहस के साथ आगे चलता रहता है।

मनुष्य को बचपन से यह सिखाया जाता है कि झूठ, छल, कपट, चोरी, क्रोध आदि बुराई है, अधर्म है, पाप है। इनसे हमेशा बचना चाहिए क्योंकि इन बुराइयों से ग्रस्त होकर मनुष्य विविध दुःखों को भोगता है। किन्तु सामान्य मनुष्य में इन बुराईयों को रोकने, इनका सामना करने का साहस नहीं होता है। बल्कि इन पाप कार्यों में लिप्त होकर अमूल्य जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है।

कुछ व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में तो ऐसी बुराईयों को नहीं आने देते किन्तु पारिवारिक, सामाजिक क्षेत्र में विद्यमान बुराईयों को सहन करते रहते हैं। उनका विरोध नहीं करते हैं। उन बुराईयों को परिवार, समाज, राष्ट्र में से दूर करने के लिए तन, मन, धन, समय, बुद्धि किसी का भी विनियोग नहीं करते हैं। ऐसे मनुष्यों का समाज कभी भी उत्कृष्ट नहीं बन सकता है।

सहनशक्ति, धैर्य का अभाव मनुष्य को शीघ्र ही परास्त कर देता है। कठिनाई, बाधायें, और प्रतिकूलताएं व्यक्ति के साथ जुड़े हुए हैं। जो इनके सामने आने पर इनको सहन न करके घबरा जाता है, घुटने टेक देता है, वह निराश-हताश होकर दुःखी हो जाता है। अतः जीवन में सफल होने के लिए सहनशक्ति एक विशेष गुण है, इसके बिना व्यक्ति जीवन यात्रा के बिच में ही असफल हो जाता है, बल्कि वह सामान्य छोटे-छोटे कार्यों में भी सफल नहीं हो पाता है।

उपर्युक्त सभी गुण परमपिता परमात्मा के उपासक को मिलते हैं। ईश्वर ये सभी अत्यावश्यक गुण उसके जीवन में अनायास ही भर देता है और वह हर प्रतिकूलता का सामना करके हर क्षेत्र में सफल हो जाता है। हे प्रभो! हमें भी तेजस्वी, वीर्यवान्, बलवान्, ओजस्वी, मन्युयुक्त और सहनशील बनाईये। हम गद् गद् होकर आपसे प्रार्थना कर रहे हैं कि हममें इन गुणों की कमी है। हम आपकी सहायता से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफल होना चाहते हैं।

★★★

(५)

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा
अभिचस्कद वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मात् सवितस्तामितो धाः
हिरण्य हस्तो वसु नो रराणः।। अथर्ववेद ६/११५/२

शब्दार्थः – **या –** जो, **मा** – मेरे पास, **लक्ष्मीः** – धन है वह, **पतयालूः** – गिराने वाला है, **अजुष्टा** – काम में न आने वाला है, **अभिचस्कन्द** – मुझ से चिपटा हुआ है, **वृक्षः इव वन्दना** – जैसे बेल पेड़ के ऊपर चिपटी हुई होती है, **ताम्** – ऐसे धन को, **सवितः** – हे आनन्द स्वरूप प्रभो !, **अस्मात्** – हमारे **इतः –** यहां से, **अन्यम्** – अलग स्थान पर, **धाः** – कर दे, **हिरण्य हस्तः** – आपके शुद्ध नियमों के अनुसार, **नः** – हमें, **वसु** – धन-ऐश्वर्य, **रराणः** – देता हुआ सुखी कर।

भावार्थ – इस वेद मन्त्र में ईश्वर ने अनिष्टकारी धन की बातें बतायी है। अर्थोपार्जन धर्मपूर्वक, पुरुषार्थपूर्वक, न्यायपूर्वक होना चाहिए। यदि धन अन्यायपूर्वक, धोखा, चोरी, रिश्वत, मिलावट, शोषण आदि के प्रयोग से अनुचित रूप में प्राप्त किया जाता है वह तो अनर्थकारी होता ही है किन्तु यहाँ ऐसे धन की बात बताई गयी है जो चाहे नीति-नियमपूर्वक भी क्यों न कमाया हो, यदि वह व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात् बचता है तो उसे समाज, राष्ट्र के कल्याणार्थ नियोजित कर देना चाहिए। आवश्यकता से अधिक संचित धन-सम्पत्ति यदि परोपकारार्थ, जनकल्याणार्थ प्रयोग नहीं की जाती है तो अनेक प्रकार की बुराइयों को बढ़ाने में कारण बनती है और जो अनीति-अधर्म पूर्वक कमाई गई सम्पति है। जो किसी के उपयोग में न लाकर छिपाकर रखी जाती है वह तो जीवन में बड़े-बड़े अनर्थों, दुराचारों को बढ़ाने में कारण बन जाती है।

आज समाज, राष्ट्र में हजारों-लाखों की संख्या में ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने जीवन पर्यन्त परम पुरुषार्थ करके धनोपार्जन किया किन्तु सामाजिक हितकारी कार्यों में उसे न लगाकर लोभ व मोह के कारण छिपाये रखते हैं। उस धन-सम्पति को व साधनों को उनके बच्चे बिना ही परिश्रम के अधिक मात्रा में प्राप्त करके आलसी, प्रमादी, विषयभोगी, जुआरी, दुराचारी, लम्पट, नास्तिक न जाने कैसे-कैसे बन जाते हैं। यदि उनके माता-पिता उनको अधिक धन न देते तो वे वैसे न बनते।

वेद मन्त्र कहता है एसा संग्रहित धन जिसका लोकोपकार के कार्यों में विनियोग नहीं होता है वह पेड़ पर लगी बेल की तरह मनुष्यों के समस्त सुखों को नष्ट कर देता है। जो सांप की तरह धन-सम्पत्ति पर लिपट कर बैठ जाते हैं वह सम्पत्ति न तो उनके काम आती है न समाज के काम आती है। बल्कि नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है या कोई धोखा देकर, चुराकर, लूटकर ले जाते हैं।

मन्त्र में प्रार्थना कि गई है कि हे प्रभो ! मेरे पास प्रथम तो पतन कराने वाली कुलक्ष्मी आये ही नहीं और यदि किसी कारणवशात् आ गई हो तो तत्काल उसे हमारे पास से हटा दो। हे आनन्द स्वरूप प्रभो ! हमारे अन्दर ऐसी प्रेरणा भरो कि हम अत्यन्त सावधान-सतर्क होकर धर्म, न्याय, आदर्श, नीति-नियमों के अनुसार ही धन सम्पत्ति को प्राप्त करें जिससे हमारी मानसिक प्रसन्नता बढ़े, आत्मिक बल बढ़े, बुद्धि की कुशलता बढ़े, तथा संसार में यश-कीर्ति प्रतिष्ठा बढ़े।

हे ईश्वर इतना साहस, बल, पराक्रम, बुद्धि प्रदान करो कि हम बुरे धन को प्राप्त करने के प्रलोभन में फँसे ही नहीं और कदाचित् असावधानी, आलस्य-प्रमाद आदि के कारण अनर्थकारी धन प्राप्त हो भी गया हो तो तत्काल हम उसे अपने पास से दूर कर देवें। जिससे अनेक प्रकार के अनर्थों से बचकर जीवन को शान्त, सुखी, सन्तुष्ट, निर्भीक और सफल बना सकें।

★★★

(६)

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते।।

ऋग्वेद १०/१९१

शब्दार्थः – **सं गच्छध्वम्** – हे मनुष्यो ! तुम सब मिलकर चलो, **सं वदध्वम्** – मिलकर बोलो, **वः** – तुम्हारे, **मनांसि** – मन, **सं जानताम्** – समान ज्ञान वाले हों, **यथा** – जैसे, **पूर्वे देवां** – पहले के देव लोग, **सं जानाना** – एक समान ज्ञान वाले होकर, **भागम्** – अपने लक्ष्य को, **उपासते** – प्राप्त करते रहे हैं वैसे ही तुम भी मिलकर करो।

भावार्थ – परमेश्वर ने हमें एक विचार वाले, एक वाणी वाले, एक व्यवहार वाले, एक सिद्धान्त वाले बनकर जीवन को चलाने का आदेश दिया क्योंकि जहाँ संगठन होता है वहीं परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है, जहाँ प्रेम होता है वहाँ पर विश्वास व श्रद्धा उत्पन्न होते हैं और जहाँ विश्वास व श्रद्धा बने होते हैं वहीं पर सन्तोष, निर्भीकता, शान्ति, सुख की स्थापना होती है अन्यथा नहीं।

किन्तु आज ईश्वर की बनाई धरती पर उसके पुत्र कितने अलग-अलग हो गये हैं, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े करके सैकड़ों अलग-अलग माण्डलिक राष्ट्र बना लिए हैं। इतना ही नहीं उनकी अपनी अलग ही भाषाएँ हैं, अलग लिपियाँ हैं, अलग ही संविधान हैं, अलग ही धर्म हैं, अलग ही ईश्वर, अलग ही पूजा-पद्धतियाँ, अलग ही शिक्षा, सभ्यताएँ, संस्कृतियाँ बना ली हैं। एक ही रंग, रूप, आकार, स्वरूप वाले मनुष्य इन अपने बनाये खण्डों में विदेशी बन गये हैं।

पृथ्वी के खण्डों में बँटने की बात छोड़िये भारत देश की तो ऐसी विचित्र स्थिति बन गयी है कि अपने ही देश में भाषाओं के

भेद के कारण पूर्व वाले पश्चिम वालों के लिए, उत्तर वाले दक्षिण प्रान्त वालों के लिए अजनबी से बन गये हैं, एक दूसरे से मिलते हैं तो अपने भावों को वाणी से अभिव्यक्त न करके गूंगे से बन जाते हैं और आश्चर्य तो यह है कि दुर्भाग्य से इस अलगाव की स्थिति को दोष न मानकर गुण मान लिया गया है और इस अलगाव को बनाये रखते हुए एकता को प्रमाणित किया जा रहा है। सिद्धान्त यह बनाया है कि अनेकता में एकता उत्पन्न करो। जो कदापि सम्भव नहीं होगा।

जहाँ व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण विगठन होता है, वहाँ पर परस्पर विरोध रहता है और जहाँ पर विरोध होता है वहाँ पर आपस में एक दूसरे के प्रति वैर, राग, द्वेष, ईर्ष्या उत्पन्न होते हैं और द्वेष आदि के कारण ही मन में संशय, चिन्ता, भय बने रहते हैं। यह सब बातें जीवन को अशान्त व दुःखी बना देते हैं। परस्पर की फूट, विरोध के कारण व्यक्ति, समाज व देश को बड़ी हानि उठानी पड़ती है, विगठित परिवार व समाज को देखकर ही विरोधी, शत्रु, स्वार्थी अनुचित लाभ उठाते हैं और समाज, गाँव, देश पराधीन बन जाते हैं। इतिहास में हमें ऐसा जानने को मिलता है।

इसलिए वेद मन्त्र में कहा कि मनुष्यो ! संगठित बनो क्योंकि सामाजिक, सर्वहितकारी, राष्ट्रीय कार्यों को बिना सामूहिक प्रयत्नों के एक अकेला व्यक्ति कदापि सिद्ध नहीं कर सकता है। आसुरी शक्तियाँ मिलकर, संगठित होकर ही विगठित श्रेष्ठ मनुष्यों के सुख-शान्तिमय जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती हैं। संगठन में शक्ति होती है। आज अच्छे मनुष्यों की संख्या अधिक है और बुरे व्यक्ति कम हैं किन्तु अच्छे व्यक्ति अधिक होते हुए भी असंगठित हैं। थोड़े से बुरे, असुर व्यक्ति संगठित होकर अधिक संख्या वाले अच्छे व्यक्तियों को चोरी, डाका, हिंसा, उत्पीड़न, भय, आतंक आदि कुकृत्यों से दुःखी बनाये हुए हैं।

वेद कहता है समान विचार, समान ज्ञान, समान सिद्धान्त के होने पर ही, न केवल व्यक्तिगत अपितु सामाजिक, राष्ट्रीय सिद्धियाँ, बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त किये जा सकते हैं अन्यथा नहीं। इतिहास बताता है कि पूर्व काल में समाज, राष्ट्र, विश्व के कर्णधार संगठित होकर ही विश्व विजयी बने, बने रहे और विगठित व्यक्ति समाज, देश पराजय को प्राप्त हो गये।

हे प्रभो ! आपसे हमारी यही हार्दिक प्रार्थना है कि हमारे अन्तःकरणों में परस्पर संगठन, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा उत्पन्न करो कि जिससे हम समस्त पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय बुराईयों को दूर करके सारे मनुष्य एक हो जायें। पृथ्वी पर रहनेवाले सभी मनुष्य एक ईश्वर, एक भाषा, एक भजन, एक भेषज, एक भोजन, एक भूषा से युक्त हो जायें। कहीं भी किसी को किसी से कोई भी वैर, विरोध, विगठन न हो।

★★★

(७)

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

यजुर्वेद ४०/३

शब्दार्थः – **असूर्या नाम ते लोकाः** – केवल भोग नाम वाले शरीरों व स्थानों को, **अन्धेन तमसा वृताः** – अविद्या रूपी अन्धकार से युक्त, **तान् ते प्रेत्य अपि गच्छन्ति** – वे जीव उन योनियों को मरकर अगले जन्म में प्राप्त करते हैं, **ये के च आत्महनो जनाः** – जो आत्मा-परमात्मा की आज्ञा के विपरीत आचरण करते हैं।

भावार्थ – मनुष्य की एक बड़ी विचित्र स्थिति है कि उसने किसी काम के बारे में ऐसा सुना होता है, पढ़ा होता है कि यह बुरा है और मन में कुछ-कुछ ऐसा विचार भी बना होता है कि मैं इस बुरे काम को नहीं करुँगा। किन्तु बुरे कार्य को करने के संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि वह नहीं, नहीं, नहीं विचारता हुआ भी अन्त में कर ही लेता है। बुरा कर्म करने के पश्चात् मन में पश्चात्ताप भी होता है कि हाय ! मैंने ऐसा कर लिया, यह तो बुरा हुआ। उसको यह भी ज्ञान है कि बुरे कर्म का फल भी बुरा ही होगा। अब वह बुरे कर्म के दुःखदायी फल से बचने के लिए उपाय ढूंढता है।

वह धार्मिक संस्थानों में जाता है, माला फेरता है, जप-तप करता है, मौन रहता है, दान देता है, सेवा करता है, पवित्र पानी में डुबकी लगाता है, हवन करता है, तीर्थ यात्रा करता है और यह विश्वास बनाता है कि अब मुझे बुरे कर्म का फल नहीं मिलेगा। इतना कुछ करने पर भी सन्तोष नहीं होता है तो वह अपने धार्मिक गुरु के पास जाकर भी अनेकानेक उपाय पूछता है और वे

बताते भी हैं किन्तु वैदिक दृष्टिकोण से देखा जाये तो यह मात्र झूठा आत्मसन्तोष है, ये बुरे कर्मों के फलों से बचने के उपाय नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि बुरे कर्मों के फलों से बचने का किसी के पास कोई भी समाधान नहीं है। वे तो भोगने पड़ेंगे, पड़ेंगे और पड़ेंगे।

वेद कहता है कि आत्मा-परमात्मा को मारने वाले अर्थात् आत्मा की सत्ता न स्वीकारने वाले तथा पवित्र आत्मा में उठने वाले शुभ विचारों के अनुसार न चलने वाले आत्मघाती हैं और ईश्वर को न मानने वाले या उसकी आज्ञाओं का पालन न करने वाले मनुष्यों को अंधकारमयी योनियाँ मिलती हैं। ईश्वर के आदेश का पालन न करने वाले, ऋषियों द्वारा निर्दिष्ट नियमों-अनुशासनों का पालन न करने वाले आत्मघाती मनुष्यों को पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष आदि भोग योनियाँ प्राप्त होती हैं। क्योंकि ऐसे आत्मघाती-नास्तिक व्यक्ति अपनी तृष्णाओं-इन्द्रिय भोगों की प्राप्ति के लिए अपने विद्या, बल, अधिकार का आश्रय लेकर समाज के अन्य लोगों को दुःखी करते हैं।

इन भोग योनि के शरीरों में वे साधन, ज्ञान-विज्ञान, सामर्थ्य नहीं होते हैं जो मनुष्य की योनि में होते हैं। इन भोग योनियों में केवल मात्र खाना-पीना, बच्चे पैदा करना, डरना-डराना, युद्ध करना ही होता है। ये जीव रात के अन्धेरे में ही अपने से छोटे, निर्बल, अकेले, रोगी, असहाय पशुओं को अवसर प्राप्त करके धोखे से मारते हैं, फाड़ डालते हैं, खा जाते हैं। इनमें भले-बुरे का कोई ज्ञान नहीं होता। इन शरीरों में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि से विशेष कार्य नहीं होते हैं, जैसे मनुष्य शरीर में होता है।

वेद कहता है कि आत्मा की सत्ता में विश्वास न करने वाले अथवा आत्मा को अजर, अमर, नित्य न मानने वाले अथवा ''आत्मा एकदेशी, अल्पज्ञ है वह मरकर पुनः जन्म लेता है, जन्म लेकर फिर मरता है, अपने कर्मों के अनुसार फलों को भोगता है''

ऐसा विश्वास न करने वाले और पवित्र आत्मा के पवित्र विचारों को न मानने वाले, उनकी अनदेखी करने वाले, उन उत्तम विचारों को दबाकर उल्टे काम करने वाले आत्मघाती हैं। इसी प्रकार परमेश्वर जो कि सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी, निराकार है, वह जीवात्मा के कर्मों को देखने वाला है और उनका सुख-दुःखरूपी फल देने वाला है, उसको जो जीव नहीं मानते हैं, वे आत्मघाती होते हैं। साथ ही जो परम आत्मा के आदेशों, विधिविधानों, नियमों, निर्देशों का पालन नहीं करते हैं वे भी आत्मघाती हैं।

ऐसे आत्मघातियों को मरने के पश्चात् पशु, पक्षी आदि दुःखदायी योनियाँ मिलती हैं, जिनमें दुःख, भय, बन्धन बहुत अधिक मात्रा में हैं तथा उन शरीरों में जीव न कोई विशेष उन्नति कर सकता है, न उसे विशेष सुख मिलता है। हे प्रभो ! हमें आशीर्वाद दो कि हम आपके, वेद के आदेशों के अनुरूप चलें और नारकीय योनियों के दुःखों से बचें, यही आपसे प्रार्थना है, जिसे आप पूरी करो।

★★★

(८)

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमो अशिवा ये असन् शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्।।

ऋग्वेद १०/५३/८

शब्दार्थः – **अश्मन्वती** – पत्थरों वाली नदी, **रीयते** – वेग से बह रही है, **सखायः** – मित्रो, **उत्तिष्ठत** – उठो, **संरभध्वम् –** मिलकर एक दूसरे की सहायता करो और, **प्र तरत** – तर जाओ, **ये अशिवाः असन्** – जो दुःखदायी व्यवहार हैं उसे, **अत्र जहीमः** – यहीं पर छोड़ देवें और जो, **शिवान् वाजान् अभि** – ज्ञान, बल, आनन्द की प्राप्ति के लिए, **वयम्** – हम, **उत्तरेम** – इस नदी को पार कर लेवें।

भावार्थ – इस मन्त्र में संसार को नदी की उपमा दी गई है और कहा गया है कि इस नदी के उस पार ज्ञान, बल, आनन्द का भण्डार है। इसलिए इस नदी को पार करना है। किन्तु नदी पार करने में कुछ बाधाएँ हैं। जिनके कारण सामान्य मनुष्य नदी को पार नहीं कर सकते हैं। बीच में ही बह जाते हैं, डूब जाते हैं। कुछ तो इसको पार करने का साहस भी नहीं करते हैं।

नदी को पार करने में पहली बाधा है उसका वेग। इस नदी की धारा बहुत तेज गति से चल रही है। थोड़ी सी असावधानी हुई कि व्यक्ति तत्काल बह जाता है। दूसरी बाधा है पत्थर। नदी के तल में मिट्टी-रेत नहीं हैं। बल्कि छोटे-बड़े पत्थर हैं। जिन पर पैर को जमाना बड़ा कठिन हो रहा है। तीसरी बाधा यह है कि नदी के नीचे जो पत्थर हैं वे गोल और चिकने हैं। इन गोल और चिकने पत्थरों पर तो पाँव टिक ही नहीं पाते हैं। केवल इतनी ही बाधाएँ होती तो कोई बात नहीं। लेकिन इन बाधाओं के साथ-साथ सिर और कंधे पर सामान का बोझ तो हमें आगे बढ़ने भी नहीं देता है।

यह तो एक दृष्टान्त है। इससे प्रेरणा यह लेनी चाहिए कि यदि हम सच्चे, पूर्ण, स्थायी सुख-शान्ति, सन्तोष, निश्चिन्तता, स्वतंत्रता का जीवन बिताना चाहते हैं तो लौकिकता, सांसारिक दिखावा, राग, द्वेष, संग्रह की प्रवृत्ति स्वरूप बाधाओं की नदी को पार करना होगा। अधर्म, अपराध, पापयुक्त विषय भोगों को भोगने की प्रबल कामनाओं रूपी बोझ को सिर पर उठाये हुए हम अलौकिक, आध्यात्मिक आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात बतायी गयी है कि कोई अकेला व्यक्ति बिना किसी की सहायता के, निर्देश के, संरक्षण के इस सांसारिक दुःखों वाली नदी को पार नहीं कर सकता है। बिना किसी पथ प्रदर्शक, सहायता के अकेला व्यक्ति स्वच्छन्दता से इस तेज, चिकने-गोल पत्थर वाली नदी में जिसमें पैर भी नहीं जमते हैं उससे पार कैसे हो सकेगा ? इसलिए हमें चाहिए कि अच्छे धार्मिक विद्वानों के उपदेश, श्रवण से प्रेरणा प्राप्त करके, समान विचारों वाले व्यक्तियों के साथ मिलकर चलते हुए ही इस नदी को पार करें, अकेले नहीं।

मन्त्र में एक बात और कही गयी है कि इतना लम्बा काल हो गया है भोगों को भोगते-भोगते, दुःखों को सहन करते-करते। सबसे प्रथम जागो, उठो, खड़े हो जाओ, मन में संकल्प करो कुछ विशेष करने का कि मुझे इस स्थिति में नहीं रहना है बल्कि इससे ऊपर उठना है।

वेद मन्त्र में कहा गया है कि हे मनुष्यो ! यदि आन्तरिक, आध्यात्मिक सुख-शान्ति की प्राप्ति करनी है तो जो अशिवों – दुःख देने वाले विचार, वाणी व कर्म हैं उनको सर्वथा त्यागना होगा। किन्तु आज के मनुष्यों की यह विडम्बना है कि वह झूठ बोलता हुआ, क्रोध करता हुआ, चोरी करता हुआ, स्वार्थी बना हुआ, स्वच्छन्दी, आलसी, प्रमादी बना रहता हुआ शान्ति व सुख को प्राप्त करना चाहता है। ऐसा सम्भव नहीं है। मानसिक शान्ति, प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए जो शिव – कल्याण करने वाला

ज्ञान-विज्ञान है, बल, सामर्थ्य, व्रत, नियम हैं उनको धारण करना होगा। सुख-शान्ति को प्राप्त करना है तो दुःख, अशान्ति, भय, चिन्ता उत्पन्न करने वाले कर्मों को छोड़ना होगा। दुःखदायी कर्मों को करते हुए सुखदायी फलों को प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

वेद में मिलकर चलने की बात कही गई है। गाँव, गली, समाज में यदि भूखमरी, रोग, अभाव, अन्याय, उत्पीड़न, अज्ञान, गंदगी है और हम अकेले अपने घर को, जीवन को, धन-सम्पत्ति से युक्त करके सुखी होना चाहें तो यह सम्भव नहीं है। सबको साथ में लेकर चलना होगा।

★ ★ ★

(९)

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजुर्वेद ३६/१८

शब्दार्थः – **दृते** – अज्ञान को दूर करने वाले ईश्वर, **दृंह मा** – मुझ में दृढ़ता प्रदान करो कि मुझको, **मित्रस्य चक्षुषा** – मित्र की दृष्टि से, **सर्वाणि भूतानि** – सारे जीव, **समीक्षन्ताम्** – देखें, **मित्रस्य अहम् चक्षुषा** – मैं भी मित्र की दृष्टि से, **सर्वाणि भूतानि** – सारे जीवों को, **समीक्षे** – देखूं, **मित्रस्य चक्षुषा** – मित्र की दृष्टि से, **समीक्षामहे** – सब जीव एक दूसरे को देखें।

भावार्थ – वेद में कहा गया है कि हे मनुष्यो ! प्रेम की दृष्टि से देखो, मनुष्यों को ही नहीं पशु-पक्षी, कीट, पतंग को भी। अज्ञान तथा स्वार्थ के संस्कारों ने मनुष्यों को आज इतना दबा लिया है कि अपने शत्रुओं से भी प्रेमपूर्वक, शालीनतापूर्वक व्यवहार करने की बात तो दूर रही, अपने सम्बन्धी, मित्रों, पड़ोसियों से यहाँ तक कि घर वालों से भी प्रेमपूर्वक व्यवहार करना भूल गये हैं। आज देश में लाखों की संख्या में न्यायालयों में जो मुकदमे चल रहे हैं वे भाई-भाई के बीच हैं, पिता-पुत्र के हैं, यहाँ तक कि पति-पत्नी के हैं। हे प्रभो ! कैसी विडम्बना है कि एक ही खून से बने, एक ही माँ से उत्पन्न हुए, एक साथ खा-पी कर बड़े हुए भाई छोटी सी जमीन के लिए, चंद रुपयों के लिए परस्पर न्यायालय में झगड़ रहे हैं। त्याग, बलिदान, सहनशक्ति, तपस्या, धैर्य रूपी धर्म की आदर्श बातें न जाने आज लुप्त सी हो गयी हैं। ''मैं और मेरे स्वार्थ की पूर्ति होनी चाहिए बाकी सारा समाज, गाँव, राष्ट्र जाये भाड़ में मुझे कोई नहीं पड़ी है'' ऐसी संकुचित स्वार्थ की पशुवृत्तियाँ आज के समाज में व्याप्त होती जा रही हैं।

देवत्व, मनुष्यत्व की बात दूर रही आज मनुष्य पशुत्व से भी नीचे गिर कर राक्षस, पिशाच, दैत्य की प्रवृत्ति वाले बनते जा रहे हैं। आज मानवता प्रेम, श्रद्धा, विश्वास के अभाव में मात्र विषय भोगों की स्वार्थ पूर्ति के दल-दल में धँस गयी है। मनुष्य-मनुष्य को दबाने, नीचे पटकने, छीना-झपटी करने, धोखा देने, एक दूसरे का गला काटने, मार देने के लिए दिमाग बनाये हुवे हैं। आज न धन सुरक्षित है, न चरित्र सुरक्षित है, न जीवन। सर्वत्र भय, अविश्वास, संशय का वातावरण बन गया है। हिंसा, आतंकवाद, उत्पीड़न का भीषण ताण्डव नृत्य हो रहा है।

वेद तो मनुष्यों के प्रति ही नहीं प्राणी मात्र के प्रति मित्र भाव रखने की बात कर रहा है। घोर अविद्या के कारण हम इतने विवेकहीन बन गये हैं कि मनुष्य के समान ही आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव, पेट, हृदय वाले, सोते, जागते, दौड़ते, भागते, बच्चे पैदा करने वाले, सुख-दुःख, भय की अनुभूति करने वाले, पशु-पक्षियों को अपने समान चेतन ही नहीं समझते हैं। उनको जड़वत् मानकर गाजर-मूली की तरह निर्दयता पूर्वक मारकर अपनी जिह्वा की लोलुपता को शान्त करने के लिए उनकी जीवन लीला को ही समाप्त कर रहे हैं। जहाँ पर क्रूरता पूर्वक ये प्राणी मारे जाते हैं वहाँ पर कैसा बिभत्स, चीत्कार वाला, हृदय विदारक वातावरण होता है, उस स्थान को, उन प्राणियों के विलाप को, क्रन्दन को, रुदन को साक्षात् देख ले तो शायद ही कोई उनके शरीर को अपना भोजन बनायेगा।

घृणा, द्वेष, ईर्ष्या को नष्ट करने वाले हे परमेश्वर ! अपनी संहार लीला से विधवा, अनाथ, अपंग, वेघरबार, खण्डहर बनाने की लीला करनेवाले इन आततायियों के मन में ऐसी दृढ़ता उत्पन्न करो कि वे अपने अन्दर विद्यमान इस वैर, विरोध, विद्वेष की अग्नि को समाप्त कर दें।

''मैं ही श्रेष्ठ हूँ, दूसरे निकृष्ट हैं'' ऐसा मिथ्या अभिमान, कुबुद्धि समाप्त हो जाये। अपने से भिन्न देश, धर्म, जाति, समुदाय,

भाषा, भूषा, पूजा, पाठ व जीवन शैली से जीने वालों के प्रति घृणा, विद्वेष की भावना नष्ट कर दो। मनुष्यों के प्रति ही नहीं अपितु पशु, पक्षियों, कीट, पतंगों के प्रति भी दया की भावना उत्पन्न हो जाये। उनको भी हम अपने मित्र, भाई के समान ही समझें, उनके प्रति हिंसा की प्रवृत्ति समाप्त हो जाये।

विश्व में कहीं भी, कभी भी, किसी भी, प्राणी का विलाप, चित्कार, आह, कराहट, रुदन सुनाई न दे, सभी निर्भीक, निश्चिन्त, स्वतंत्र होकर अपने-अपने जीवन को शान्ति पूर्वक व्यतीत करें। उनको किसी भी प्रकार का कोई भी कष्ट न हो ऐसा मनुष्यों को वरदान दे दो। सर्वत्र प्रेम, श्रद्धा, मित्रता, विश्वास सौहार्द सत्कार, सेवा, परोपकार, दया, अनुग्रह ही दृष्टिगोचर हो। आपसे शक्ति, सामर्थ्य, सहायता, प्राप्त करके ये प्राणलेवा हिंसक प्रवृत्ति वाले प्राणदानी बन जायें।

★★★

(१०)

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभिशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः।।

यजुर्वेद २९/४३

शब्दार्थः - **रथे तिष्ठन्** - रथ पर बैठा हुआ, **सुसारथिः** - चालक, **पुरः** - आगे दौड़ने वाला, **वाजिनः** - घोड़ों को, **यत्र यत्र कामयते** - जहाँ जहाँ चाहता है, **नयति** - वहाँ ले जाता है, वैसे ही शरीर इन्द्रियों को हम चला सकते हैं। इसके लिए, **अभीशूनाम्** - मन की वृत्तियों को, **महिमानम्** - जानो क्योंकि, **पश्चात्** - पीछे लगी, **रश्मयः** - रस्सियाँ ही घोड़ों को, **अनुयच्छन्ति** - चलाती हैं, ऐसे ही मन इन्द्रियों को चलाता है।

भावार्थ - मनुष्य इस शरीर में बच्चे से किशोर, किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़ तथा प्रौढ़ से वृद्ध हो जाता है और आगे मर भी जाता है। किन्तु यह नहीं जान पाता है कि मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है, मेरी शक्तियाँ कितनी हैं, मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं। वैज्ञानिकों ने भी सारी प्रकृति को छान लिया। शरीर को सुखपूर्वक लम्बे काल तक जीवित रखने के लिए लाखों आविष्कार करके विषय भोगों के ढ़ेर लगा दिये हैं। फिर भी मन, बुद्धि, आत्मा को, उनकी शक्तियों, कार्यों को न जानने के कारण न स्वयं पूर्ण सुखी हुए न संसार को सुखी बना पाये हैं।

अनियंत्रित मन वाला मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि से प्रभावित होकर प्रायः प्रति दिन अनिष्ट कार्यों को करता रहता है, सुन्दर रूप देखकर फिसल जाता है, मधुर रस चखकर फिसल जाता है, प्रिय स्पर्श करके फिसल जाता है, यहाँ तक फिसलता है कि विवेक खोकर अनुचित, पाप, अधर्म अथवा ऐसे

कहें कि न करने योग्य कार्यों को कर लेता है। फिर उसे परिणाम में रोग, अपयश, निन्दा, बन्धन, मृत्यु आदि दुःखों को भोगना पड़ता है और पश्चात्ताप की अग्नि में जीवनभर दिन-रात जलना पड़ता है।

वेद मन्त्र में कहा है कि हे मनुष्यो ! जैसे एक कुशल सारथी-चालक, लगाम से घोड़ों की नाक को बांधकर अपनी इच्छानुसार जिधर ले जाना चाहे, ले जाता है, जब चाहे रोक लेता है-चलाता है। वैसे ही ये आँख, नाक, कान, हाथ, पाँव आदि इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों को चलाने वाला मन है और मन को आदेश देने वाला आत्मा है। अज्ञान के कारण शरीर, मन, इन्द्रियों का स्वामी चेतन आत्मा स्वयं को इन्द्रियों का चलाने वाला न जान कर यह मान लेता है कि "मेरी इन्द्रियाँ अपने आप विषयों की ओर जा रही हैं, मैं तो इनको रोकने का प्रयास करता हूँ किन्तु ये रुकती ही नहीं हैं।" किन्तु ये सब मान्यतायें झूठी हैं।

वास्तविकता यह है कि मनुष्यों का मन प्रकृति से बनी एक जड़ वस्तु है चेतन नहीं है। यह मन अपने आप न विचारों को उठाता है न इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित करता है। विचारों को उठाने वाला तो आत्मा है उसी की इच्छा से अच्छे-बुरे विचार उठते हैं और उसी की प्रेरणा से मन के माध्यम से इन्द्रियाँ विषयों को भोगती हैं।

जैसे सी.डी. में अनेको व्यक्तियों के चित्र व शब्द अंकित होते हैं, बुद्धिमान व्यक्ति सी.डी. प्लेयर के माध्यम से जिस व्यक्ति के जिन शब्दों को सुनना चाहता है उसी ट्रेक को क्लिक करके देख, सुन लेता है। वैसा ही हमारे मन रूपी सी.डी. में अनेकों व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों, घटनाओं से सम्बन्धित रूप, रस, गन्ध आदि विषय संस्कार रूप में संग्रहीत हैं। वह भी अपनी इच्छा से ही इनमें से किसी एक विषय को उठाता है तो उस-उस व्यक्ति, वस्तु, घटना से सम्बन्धित विचार उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे

साईकल, स्कूटर, कार, केमेरा, पंखा, मशीन, कम्प्यूटर आदि यंत्र अपने आप नहीं चलते हैं, किसी चालक के द्वारा ही चलाये जाते हैं। वैसे ही शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि से होने वाले कार्यों का कर्ता, चालक, प्रेरक एक चेतन आत्मा है।

जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं मात्र पाँच भूतों से बना पिण्ड नहीं हूँ न पाँच या दस इन्द्रियों का समूह हूँ, बल्कि मैं एक नित्य चेतन आत्मा हूँ जो शरीर आदि जड़ जगत का स्वामी हूँ, इसका संचालक हूँ। यह ज्ञान होते ही वह अपने जीवन में से सभी बुराइयों, कुसंस्कारों, कुटेवों, आदतों को पकडने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। उन बुरे संस्कारों को दबाने में समर्थ हो जाता है और आगे चलकर उन्हें समाप्त करने में भी समर्थ हो जाता है। जिन समस्याओं को आज पहाड़ के समान समझता है, उन सभी समस्याओं को सहन कर लेता है अथवा उनका समाधान निकालने अथवा उन सब को टालने में समर्थ हो जाता है। प्राणायाम, जप, ध्यान, दृढ़ संकल्प, सतर्कता, सावधानी पूर्वक इस स्थिति को स्थिर बनाये रखता है। उस व्यक्ति में अटूट आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है। आगे चलकर प्रभु की उपासना से विशिष्ट ज्ञान, बल व सामर्थ्य को प्राप्त करके स्वयं को ही नहीं, अपितु सारे समाज, राष्ट्र और विश्व को भी अपनी इच्छा अनुसार बनाने में समर्थ हो जाता है।

प्रभो ! कृपा करो कि हम ऐसा सामर्थ्य प्राप्त करें।

★★★

(११)

अधः पश्यस्व मोपरि संतरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।।

ऋग्वेद ८/३३/६६

शब्दार्थः – **अधः पश्यस्व** – हे स्त्री ! तू नीचे की ओर देख, **मा उपरि** – ऊपर की ओर तांक–झांक मत कर, **सन्तराम** – अच्छी तरह से सम्भालकर, **पादकौ हर** – अपने पैरों को चला, **मा ते कशप्लकौ दृशन्** – तेरे युगलाँग (नितम्ब–स्तन) दिखाई नहीं दें क्योंकि, **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ** – स्त्री मनुष्य समाज को रचने वाली है।

भावार्थ – यह मन्त्र स्त्रियों के विषय में निर्देश करता है कि वे अपनी दृष्टि को नीची रखें, इधर–उधर या ऊपर की ओर अधिक ताक–झांक न करें। दूसरा निर्देश किया गया है कि वे चलते समय अपने पाँवों को बड़ी सावधानी से धीरे–धीरे रखें। न चंचलता हो, न हडबडाहट हो, न इठलाते हुवे चलें। तीसरी बात मन्त्र में कही गयी कि स्त्री अपने युगलाँगों को छिपाकर रखें उनको दिखाये नहीं, उनका प्रदर्शन न करें। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर भी मन्त्र में दिया गया है कि स्त्री मनुष्य सृष्टि की रचना करने वाली है। यदि वह शिष्ट, सभ्य, सुशील, संयमी है तो उसकी बनाई प्रजा भी वैसी ही बनेगी।

जैसे उत्तम फसल लेने के लिए उत्तम बीजों का चयन किया जाता है क्योंकि यदि बीज ही निकृष्ट, हीनवीर्य, दोष युक्त होंगे तो पैदावार उत्कृष्ट नहीं हो सकती। वैसे ही स्त्री यदि संयमी, लज्जागुण वाली, गंभीर, शालीन, पुरुषार्थी, त्यागी, तपस्वी होगी, चरित्रवान होगी तो सन्तान भी वैसा ही होगा।

आज के उच्छृंखल, स्वच्छन्दी, लम्पट, आलसी, प्रमादी, कामी, क्रोधी सन्तानों का मुख्य कारण माँ ही है। माँ की पदवी केवल बच्चों को पैदा कर देने से या उन्हें रोटी खिला देने से या लाल, नीले, पीले कपड़े पहना देने से नहीं मिलती है। माँ, माँ तब बनती है जब वह बच्चों को चरित्रवान्, राष्ट्रभक्त, ईश्वर विश्वासी, समाज सेवी बनाये। यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इन गुणों से युक्त हो।

आज समाज में जो स्त्रियों के साथ छेडखानी, गन्दी हरकतें, दुराचार, बलात्कार आदि की घटनाएँ बनती जा रही हैं, उनमें स्त्रियाँ भी कारण हैं। वे यदि अच्छे, सादे वस्त्र पहनें, अपने स्तन, नितम्ब आदि कामोत्तेजक अंगों का प्रदर्शन न करें, अपनी आंखे नीचे रखें, सीधे रास्ते पर चलें तो दुष्टों की हिम्मत ही नहीं कि वे उनकी छेड़खानी करें। जब स्त्रियाँ स्वयं ही बन-ठनकर, रंग-रंगीले, चुस्त वस्त्रों को पहन कर, भड़कीले, आकर्षक श्रृंगार करके घर से बाहर गली, बाजारों में निकलती हैं तभी इन दुरात्माओं का इनसे दुराचार करने का साहस होता है। यदि ये ऐसा न करें तो न हों। स्तनों, नितम्बों आदि कशप्लकौ का प्रदर्शन करना लम्पटता है, इस लम्पटता के प्रदर्शन से देखने वाले के मन में विषयासक्ति उत्पन्न होती है और विषयासक्त व्यक्ति ही व्यभिचारी, दुराचारी बनने का प्रयास करता है और जिस समाज में दुराचार, व्यभिचार, अनाचार फैलता है उस समाज में शौर्य, पराक्रम, उत्साह, आदर्श परम्पराओं का विनाश हो जाता है।

विश्व की एक बहुत बड़ी समस्या है कि बच्चे बिगड़ रहे हैं। हर कोई कह रहा है कि बच्चे बिगड़ रहे हैं। किन्तु वैदिक जीवन पद्धति से परीक्षण किया जाये तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि बच्चे बिगड़ नहीं रहे हैं, बिगाड़े जा रहे हैं और बिगाड़ने वालों में माँ का नाम शीर्षस्थ है। स्त्री भावी सन्तति की जननी ही नहीं है अपितु जीवन निर्मात्री भी है इसी को वेद में ब्रह्मा शब्द से कहा

गया है यदि ब्रह्मा स्वयं ही अज्ञानी, रोगी, गुणहीन होगा तो उसकी रचना भी वैसी ही होगी।

स्त्री कोई भी ऐसा कार्य न करे जिससे बच्चों तथा परिवार, समाज पर कुप्रभाव पड़े। आज समाज में जो थोड़ी बहुत संस्कृति, सभ्यता, शिष्टता, शालीनता, आदर्श परम्पराएँ बची हुई हैं उसका कारण स्त्रियाँ ही हैं। यदि स्त्रियाँ सुरक्षित हैं, आस्तिक हैं, धर्म पारायण हैं, कर्त्तव्य निष्ठ हैं तो सन्तान और समाज भी ऐसा ही बनेगा। आज समाज, राष्ट्र का चारित्रिक दृष्टि से जो पतन हुआ है, हो रहा है उसका महत्त्वपूर्ण कारण है स्त्रियों का अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाना। अतः वेदानुसार हम अपने परिवार की स्त्रियों को उनके कर्त्तव्य का बोध करावें और परमात्मा से प्रार्थना करें कि प्रभो ! हमारी माताओं, बहनों को ऐसी प्रेरणा प्रदान करो कि वे अपने जीवन को पतन की ओर न ले जाकर उसे उत्कृष्ट बनायें जिससे समाज, राष्ट्र का भी उत्कर्ष हो।

★★★

(१२)

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः।।

यजुर्वेद ३६/२२

शब्दार्थः – **यतो यतः** – जहाँ जहाँ, **समीहसे** – हे ईश्वर ! आप क्रिया करते हो, **ततः** – वहाँ वहाँ, **नः** – हमको, **अभयम्** – निर्भीक, **कुरु** – करो, **शं** – कल्याण, **कुरु** – करो, **नः प्रजाभ्यः** – हमारी प्रजा के लिए, **अभयम्** – अभय करो, **नः** – हमारे, **पशुभ्यः** – पशुओं के लिए।

भावार्थ – सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर व्यापक है और वह सर्वत्र क्रियाएँ कर रहा है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर क्रिया न करता हो। इस मन्त्र में परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे प्रभो ! मैं भयभीत हूँ, मुझे कभी किसी व्यक्ति से, कभी किसी स्थान पर, कभी किसी घटना से, कभी मन में कोई कपोल कल्पना करके, कभी किसी प्रकार आशंका करके मन में भय उत्पन्न हो जाता है। अनेक बार तो यह भय इतना प्रबल हो जाता है कि दिन भर मन-मस्तिष्क में छाया रहता है। भुलाने पर भी नहीं भूलता है। बलात् मन को अन्य कार्य में लगाने का प्रयास करता हूँ। लेकिन सहसा ही फिर वही चिन्ता आ घेरती है।

अब वर्तमान में तो भय इतना व्यापक होता जा रहा है कि घरों में स्त्रियों को पुरुषों से भय है, बच्चों को माता-पिता से भय है, पड़ौसी को पड़ौसी से भय है, मनुष्यों को मनुष्य से परस्पर भय बना रहता है। ग्राहक को दुकानदार से, रोगी को डॉक्टर से, मालिक को सेवक से, मुवक्किल को वकील से, अध्यापक को विद्यार्थी से, राजा-सेनापति को सैनिक से, यहाँ तक कि पत्नी को पति से, भाई को भाई से भय बना रहता है।

विश्व में जो भय का साम्राज्य स्थापित हो गया है इसका कारण मनुष्य-मनुष्य के बीच संशय, भ्रान्ति है और इस संशय का कारण परस्पर अविश्वास है, अविश्वास का कारण है झूठ, छल, कपट, अन्याय का व्यवहार और झूठ आदि के प्रयोग करने का कारण है अधिकाधिक भोगों को भोगने की लिप्सा और इस लिप्सा की पूर्ति धन प्राप्ति से होती है। यह विषय भोगेच्छा मनुष्य के धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित, आदर्श-अनादर्श के विवेक को नष्ट करके उसे स्वार्थ बुद्धि वाला बना देती है और स्वार्थी व्यक्ति अपनी विषय तृष्णा की पूर्ति के लिए नीचे से नीचे गिर कर कुछ भी करने को तत्पर हो जाता है। इस प्रकार की निकृष्ट मानसिकता, कुसंस्कार वाले मनुष्य समाज में अधिक हो जाते हैं तो सर्वत्र भय का साम्राज्य उत्पन्न हो जाता है।

मनुष्यों के बीच इस भय के आतंक को समाप्त करने के लिए बस एक ही परम उपाय पर्याप्त है। वह है ईश्वर की सत्ता को सर्वव्यापक रूप में स्वीकारना, उसके पूर्ण न्यायकारी स्वरूप को समझना, उसके सर्वज्ञत्व को मान लेना। वह परमेश्वर किसी एक ही स्थान में चाहे वह मंदिर हो या मस्जिद हो, गुरुद्वारा हो या चर्च में ही स्थित नहीं है वह तो कण-कण में व्यापक हमारी एक-एक क्रिया को देख रहा है, देख ही नहीं रहा है बल्कि प्रत्येक जीव के कर्मों का हिसाब भी रख रहा है तथा समय आने पर उसका फल भी अवश्य देगा।

एक विडम्बना यह भी संसार में देखने को मिलती है कि दुष्ट, पापी, हिंसक, अत्याचारियों द्वारा बिना किसी भय के निःशंक होकर धार्मिक, आस्तिक, निष्पाप व्यक्ति सताये जा रहे हैं और ये भयभीत हो कर सब कुछ सहन कर रहे हैं। इसमें बुरे व्यक्ति का दोष तो है ही किन्तु धार्मिकों का भी एक दोष है कि वे बलवान नहीं बनते हैं, संगठित नहीं होते हैं, दुष्टों को परास्त करने के लिए योजना नहीं बनाते हैं, तन-मन-धन का त्याग नहीं करते हैं

और विकट परिस्थितियों से निपटने के लिए धर्म, आदर्श की रक्षा हेतु प्राणों की बाजी लगाकर सुसज्जित नहीं रहते हैं। दुष्ट व्यक्ति किसी को इसलिए नहीं छोड़ देता है कि कोई धार्मिक है। वह किसी का बुरा नहीं करता है बल्कि दुष्ट तो उसी व्यक्ति को निशाना बनाते हैं जो सरल है, भोला है, धार्मिक है, नम्र है, भला व्यक्ति है, अहिंसक है। यदि धार्मिक, अच्छे व्यक्ति बलवान भी बन जायें तो बुरे व्यक्ति उन्हें दुःख देने का साहस नहीं करेंगे और इनके कष्ट दूर हो जायें।

हे प्रभो ! हम तो आपसे ही विनम्र प्रार्थना कर रहे हैं कि इस धरती पर सर्वत्र भय का विनाश हो जाये, विश्व के सभी मनुष्य चाहे वे किसी भी देश, धर्म, जाति, भाषा, परम्परा को मानने वाले हों, परस्पर निर्भय हो जायें, किसी को कहीं पर भी किसी भी समय कोई भी भय न हो, सभी निःशंक, निर्द्वन्द्व, निश्चिन्त होकर विचरण करें। जो लोग अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए, भोगविलास के लिए सीधे, निरीह, मूक-अबोल पशु-पक्षियों को मार रहे हैं। यह क्रुर, अनर्थ कृत्य भी बन्द हो जाये। चारों दिशाओं में सर्वत्र सुखशान्ति, निर्भीकता, निश्चिन्तता, स्वतंत्रता का साम्राज्य स्थापित हो जाये। किसी से किसी को किञ्चित् मात्र भी भय न हो। ऐसी आपसे प्रार्थना है।

★★★

(१३)

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिश्रुतम्।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन्।।

यजुर्वेद २/३४

शब्दार्थः – **ऊर्जम्** – पराक्रम उत्साह को उत्पन्न करने वाले श्रेष्ठतम रस, **वहन्तीः** – सुखदायक, स्वादिष्ट, सुगन्धित जल, **अमृतम्** – समस्त रोगों को नष्ट करने वाली औषधियाँ, मिठाइयाँ और, **घृतम्** – गायों के दही से बिलोकर निकाला गया घी, **पयः** – गायों का ही शुद्ध दूध, **कीलालम्** – उत्तम रीति से संस्कार किये हुवे अन्न की रोटी आदि, **परिश्रुतम्** – पेड़ों पर ही अपने आप पके हुए फल, **मधु** – शहद, **स्वधा स्थ** – धर्म, सत्य, न्याय से कमाये हुवे धन-सम्पत्ति से सेवा करके, **तर्पयत** – तृप्त करो, सन्तुष्ट करो, **मे पितृन्** – घर में स्थित बड़ों को।

भावार्थ – वेद-शास्त्रों में कृतघ्नता को सबसे बड़ा दोष माना गया है। कृतघ्नता का अर्थ है – किसी के द्वारा किये गये उपकारों को भूल जाना। मनुष्य के जीवन के निर्माण, विकास, उन्नति में माता- पिता, दादा-दादी, मामा-चाचा, भाई-बहन, गुरु, आचार्य, मित्र, साथी, पड़ोसी, गली, समाज, गाँव के सभी मनुष्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में न्यूनाधिक हाथ होता ही है। ये सभी व्यक्ति मिलकर आने वाली नई पीढ़ी के बच्चों, युवकों को येन-केन प्रकार से शिक्षा, नीति, नियम, धर्माचार के द्वारा प्रेरणा उत्साह, पराक्रम उत्पन्न करके सहायता करते हैं। यदि इनका सहयोग, उपकार न मिले तो मनुष्य की उतनी उन्नति नहीं हो सके जितनी कि इनका सहयोग होने पर होती है।

उपरोक्त सभी महानुभावों का मनुष्य पर उपकार होने से नई पीढ़ी वाले मनुष्य उनके ऋणी हो जाते हैं। उस ऋण से उऋण होने के लिए उनके वृद्ध होने पर उनकी सेवा-सुश्रुषा, सत्कार, सन्तुष्टि करनी चाहिए। इसको प्रत्युपकार भी कहते हैं। जो व्यक्ति अपने किसी के द्वारा किये गये उपकार के बदले उसका प्रत्युपकार नहीं करता है वह व्यक्ति कृतघ्नता के दोष से ग्रस्त हो जाता है। यह कृतघ्नता का दोष महादोष माना गया है।

वैदिक संस्कृति में वृद्धों का बड़े आदर-सन्मान के साथ श्राद्ध करने का विधान है। इस कार्य से न केवल आत्मिक शान्ति, सन्तोष की प्राप्ति होती है अपितु बड़ों की सेवा-सुश्रुषा करने वालों की आयु बढ़ती है, विद्या परिपक्व होती है, यश-कीर्ति फैलती है और शारीरिक, मानसिक, आत्मिक बल भी बढ़ता है। श्राद्ध, तर्पण, जीवित माता-पिता, दादा-दादी, गुरु, आचार्य, विद्वान्, अतिथियों का ही होता है। जीवित वृद्धों को ही उनकी इच्छा, अनुकूलता के अनुसार उत्तम कोटि के फल, फूल, घी, दूध, दही, शहद, मक्खन, मलाई, मिष्टान्न, वाहन अनेक प्रकार के रोगों और निर्बलताओं को नष्ट करने वाले रसायनों, औषधियों को खिलाने का विधान है।

उपदेशक, आचार्य, पण्डित, संन्यासी, वानप्रस्थ, आदि त्यागी, तपस्वी, निष्काम सेवी विद्वान् प्रत्येक दिन गृहस्थों के घर में जाते हैं और वे उनको सत्य, धर्म, न्याय, आदर्श मार्ग पर चलने का उपदेश करते हैं। उनकी शंकाओं, समस्याओं का समाधान करते हैं, उचित दिशा निर्देश करते हैं। जब ऐसी शिक्षा, उपदेश होते रहते हैं तभी गृहस्थी व्यक्ति चरित्रवान, धार्मिक, पुरुषार्थी, तपस्वी, त्यागी, ईश्वर भक्त, राष्ट्र भक्त बने रहते हैं। इनका अभाव हो जाने पर गृहस्थी अपनी आदर्श परम्पराओं, नीति-नियमों, विधि-विधानों को छोड़कर स्वेच्छाचारी, आलसी, प्रमादी, विषय-लम्पट, देह प्रदर्शक, नास्तिक बनकर अनेक प्रकार के कुटेवों, कुव्यसनों, आदि दोषों से ग्रस्त हो जाते हैं।

ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, अनुभववृद्ध, धनवृद्ध, तपोवृद्ध, श्रुतवृद्ध व्यक्तिओं के पास बहुत अधिक मात्रा में विशिष्ट गुण पाये जाते हैं। ये महानुभाव जीवन पथ में आने वाली अनेक आपत्तिओं, विपदाओं, कष्टों, विघ्नों, बाधाओं से सुपरिचित होते हैं। वे नई पीढ़ी के युवाओं को समस्याओं का समाधान तत्काल बता देते हैं, साथ ही आने वाले भावि कठिनाईयों, बाधाओं से भी परिचित करा कर उनके विषय में भी सतर्क-सावधान कर देते हैं। दुर्भाग्य से आज नई पीढ़ी अपने इस अनुभव के भण्डार वृद्धों से दूर होती जा रही है, कट सी गई है जिसका परिणाम यह निकल रहा है कि इन वृद्धों, माता-पिता, दादा-दादी, चाचा, ताऊ, मामा आदि के अलग-थलग होने के कारण नैतिक गुणों का अत्यधिक ह्रास हुआ है। संयुक्त परिवार के कारण जीवन में जो सुख, शान्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, रक्षा, निर्भीकता प्राचीन काल में थी वह आज लुप्त प्रायः हो गई है। राष्ट्रीय, सामाजिक, ग्रामीण सुख व लाभों की बात तो दूर रही अलग रहने के कारण पारिवारिक लाभ भी मिलने दुभर हो गये हैं।

हे प्रभो ! हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि हमें वह ज्ञान दो कि जिससे हम अपने पितर जनों, अभिभावकों, अतिथियों, बड़े बुजुर्गों के साथ ही जीवन व्यतीत करें, उनसे कदापि अलग-थलग न हों उनके किए उपकारों के बदले में प्रत्युपकार करते रहें, जिससे हमारे अन्दर कृतघ्नता का दोष न आये और उनको हर प्रकार से तन-मन-धन आदि से सेवा-सुश्रुषा करके सदा पूर्ण तृप्त करने का प्रयास करते रहें, जिससे वे हमें बुराईयों से हटाकर अच्छाईयों की ओर सदा प्रेरित करते रहें और हम सदा आनन्द में रहें।

★★★

(१४)

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमऽगुंरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः।।

अथर्ववेद ४/१८/६

शब्दार्थः – **यः** – जिसने, अपना कर्त्तव्य **चकार न** – किया नहीं, **कर्तुम्** – जबकि वह उसे करने में, **शशाक** – समर्थ था, उसने, **शश्रे** – काट लिए, **पादम्** – अपने पावों को, **अंगुरिम्** – और हाथों को, जिसने, **चकार** – किये, **भद्रम्** – कल्याणकारी कार्यों को, **अस्मभ्यम्** – हमारे, दूसरों के लिए, **आत्मने** – और अपने लिए, **तपनम्** – तपस्वी-प्रतापी, **तु** – तो, **सः** – वही है।

भावार्थ – जब से मनुष्य होश संभालता है तब से ही उसकी माँ अपनी गोदी में खिलाते समय, सुलाते समय, नहलाते समय, लोरी गा-गाकर अच्छी बातें सीखलाती है। थोड़ा बड़ा होने पर पिता कन्धे पर बिठाकर, या अंगुली पकड़कर, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध कराता है और बड़ा होने पर विद्यालय में आचार्य, अध्यापक शिक्षा देकर सत्य-असत्य का ज्ञान कराता है। फिर आगे वह अपने गुरु, उपदेशक, पण्डित, विद्वानों के सत्संग में जाकर धर्म-अधर्म का बोध करता है। इसके अतिरिक्त वह स्वयं भी प्रकृति, समाज, परिवार, राष्ट्र की विविध घटनाओं को प्रत्यक्ष देख कर, पुस्तकों का स्वाध्याय करके, आत्मचिन्तन करके सीखता ही रहता है।

युवा होने तक तो उसको लगभग पता चल ही जाता है कि उचित क्या-अनुचित क्या है, हानिकारक क्या है, लाभकारी क्या है, सुखदायी क्या है, दुःखदायी क्या है। तब उसने सैकड़ों नहीं हजारों बार दोनों पक्षों को जान लिया होता है। फिर भी अनेक कार्यों में थोड़ी सी बाधा आने पर, थोड़ा सा कष्ट होने पर, थोड़ी सी हानि होने की संभावना होने पर, थोड़ा सा अपमान होने की

स्थिति में जो करने योग्य है, कर्त्तव्य है उसे नहीं करता है या थोड़ा करता है या बहाना बनाकर टाल देता है, भूल जाता है। जब कि उसके पास उस कार्य को करने के लिए सामर्थ्य होता है, साधन भी होते हैं, शक्ति भी होती है, समय भी होता है। किन्तु आलस्य, प्रमाद, क्षुद्र स्वार्थपरता, चंचलता, लापरवाही के कारण नहीं करता हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका जीवन यापन समाज में विद्यमान व्यक्तियों के प्रत्यक्ष या परोक्ष सहयोग के बिना कदापि संभव नहीं है। अतः उसका भी कर्त्तव्य है कि वह अन्यों के लिए भी कुछ समय निकाले, कुछ बुद्धि लगाये, कुछ परिश्रम करे, कुछ त्याग करे। दूसरों के कल्याण के लिए थोड़ा सा समय, थोड़ा सा धन, थोड़ा सा परिश्रम करके हम अन्यों के लिए सुख का कारण तो बनते ही हैं, इस परोपकार के कार्य से अपनी आत्मा को भी शान्ति मिलती है, मन प्रसन्न होता है और इन सबसे जीवन एक सुन्दर इतिहास बन जाता है। इन सेवा, त्याग, दान, परोपकार के कार्यों के करने से अन्तःकरण में जो सुसंस्कार बनते हैं वे जीवन पर्यन्त आनन्द के कारण बन जाते हैं। विशेषकर मृत्यु समय में जो जीवन में अच्छा-बुरा किया होता है वह स्मरण आता है। यदि हमने अच्छा किया होता है तो सन्तोष की अनुभूति होती है और बुरा किया होता है तो दुःख की, ग्लानि की, पश्चात्ताप की अनुभूति होती है।

इसलिए वेद मन्त्र कहता है कि मनुष्यो ! किसी अच्छे कार्य को करने का सामर्थ्य, साधन, अवसर है तो बिना अवसर चूके उसे कर ही देना चाहिए। मनुष्य के जीवन में पदे-पदे ऐसे सुअवसर आते ही रहते हैं जब वह अपने आसपास में रहने वाले किसी वृद्ध, विधवा, अनाथ, रोगी, अभावग्रस्त, दुःखी व्यक्ति को अन्न, वस्त्र, वस्तु, औषध, धन देकर अथवा शिक्षा, चिकित्सा, सम्मति, सुझाव देकर अथवा उसको उत्साह, धैर्य प्रदान कर अथवा प्रेरणा, पुरुषार्थ, जोश भर कर सहायक बन सकता है।

केवल अपने लिए या अपने परिवार के लिए जीना तो पशु जीवन ही है। स्वयं अपने लिए सुख उत्पन्न करके दूसरों के लिए भी सुख उत्पन्न करने वाला मनुष्य कहलाता है।

प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन एकान्त स्थान में कुछ समय आँख बन्द करके आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि आज मैंने क्या अच्छा काम नहीं किया, जो मैं कर सकता था। अपने लिए, परिवार के लिए, पड़ोसी के लिए, मित्र-साथी के लिए, गाँव-समाज के लिए, राष्ट्र के लिए आगे चलकर विश्व में भलाई करने के लिए बहुत से क्षेत्र हैं। परोपकार के प्रत्येक कार्य हेतु कुछ तो त्याग करना ही पड़ता है, कुछ तो सहना ही पड़ता है, बिना स्वयं की हानि किये, कुछ कष्ट उठाये, अन्यों का भला नहीं हो सकता। दूसरों के लिए भला करने वाला, तपस्या करने वाला ही वास्तव में तपस्वी होता है। अपनी उत्तम सेवा के कार्यों से वह समाज में प्रकाशित होता है और उसके परोपकारी जीवन से लोगों को प्रेरणा भी मिलती है।

हे प्रभो ! हमें औरों के कल्याण के लिए, अन्यों की उन्नति के लिए, दूसरों के विकास के लिए कुछ न कुछ काम करने की प्रेरणा देते रहो, जिससे हमारा भी कल्याण हो और अन्यों का भी उद्धार हो।

★★★

(१५)

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते।।

यजुर्वेद १९/३०

शब्दार्थः - **व्रतेन** - संकल्प करने से, **दीक्षाम्** - अधिकार को, **आप्नोति** - प्राप्त करता है, **दीक्षया आप्नोति दक्षिणाम्** - अधिकार का प्रयोग करके मनुष्य धन-प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है, **दक्षिणा श्रद्धाम् आप्नोति** - धन-प्रतिष्ठा से लक्ष्य के प्रति दृढ़ता व रुचि बढ़ती है और, **श्रद्धया सत्यम् आप्यते** - उस श्रद्धा से सत्य को प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ - वेद मंत्र में अन्तिम सत्य तक पहुँचने के लिए चार श्रेणियाँ बताई गयी हैं। इनको क्रम से प्राप्त करके ही व्यक्ति अपने निर्धारित लक्ष्य तक पहुँच सकता है। पहली श्रेणी है संकल्प-प्रतिज्ञा - किसी भी कार्य को करने का मन में दृढ़ निश्चय। छोटा हो या बड़ा, किसी भी कार्य को सम्पादित करने के लिए मन में उसके प्रति तीव्र इच्छा उत्पन्न होनी आवश्यक है। मैं इस कार्य को अवश्य ही करुँगा चाहे कितनी ही बाधायें, कष्ट, अभाव क्यों न आवें। मैं भूखा-प्यासा रहकर भी इस कार्य को पूरा किये बिना चैन की श्वास नहीं लूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा होनी आवश्यक है। अपने लक्ष्य को वह भूलता नहीं है उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सेवा आदि कार्य को गौण रूप में करते हुए उसके मन-मस्तिष्क में लक्ष्य छाया रहता है। ऐसी प्रतिज्ञा समूह में सार्वजनिक रूप में की जाये तो और अधिक दृढ़ता आती है। लोग भी उसे याद दिलाते रहते हैं। वह अपने संकल्पों से हटता नहीं है, उन्हें भूलता भी नहीं है।

वेद में तो अनेकत्र ऐसा निर्देश किया गया है कि व्यक्ति शुभ कर्मों-कर्त्तव्य कर्मों को करने का संकल्प धारण करे क्योंकि जो संकल्प से रहित है वह मनुष्य ही नहीं है बल्कि पशुवत् है। पशुओं के जीवन में किसी कार्य को करने का न कोई संकल्प होता है, न कोई नीति-नियम होता है।

जिसने किसी कार्य को करने का मन में संकल्प कर लिया है चाहे वह शारीरिक हो या आत्मिक या सामाजिक या फिर राष्ट्रीय उसके लिए इस संसार में कोई भी कार्य कठिन नहीं है और बिना व्रत के छोटा सा कार्य भी सरल नहीं होता है। यद्यपि किसी भी क्षेत्र में उन्नति करने हेतु अनेक संसाधनों की अपेक्षा होती है। किन्तु उन सब में प्राथमिक तथा मुख्य साधन के रूप में दृढ़ संकल्प होना चाहिए। जब कोई दृढ़ संकल्प कर लेता है तो उसको उस कार्य को पूरा करने के लिए अन्यों से अधिकार भी मिलते हैं और अधिकार को प्राप्त करके जो व्यक्ति अपने पूर्ण पुरुषार्थ, तपस्या, त्याग पूर्वक परिश्रम करता है तो उसे दक्षिणा मिलती है, लोगों से सम्मान मिलता है, पुरस्कार मिलते हैं, अन्य लोग भी उसका समर्थन करते हैं, उसके साथ हो जाते हैं, उसकी सर्वत्र जय-जय कार होती है, उसकी सभी प्रशंसा करते हैं, गीत गाते हैं, पूजा-स्तुति करते हैं।

जब लोगों से, समाज से, जन-जन से उसे इस प्रकार का सम्मान मिलता है तो अपने कार्यों के प्रति उसकी श्रद्धा, निष्ठा, प्रेम, विश्वास और अधिक बढ़ जाता है और व्यक्ति अपने उस संकल्पित कार्य को और अधिक पुरुषार्थ के साथ, तपस्या के साथ करता है। जिस कार्य के प्रति जितनी अधिक श्रद्धा होती है वह उस कार्य को उतनी ही अधिक तीव्रता से, दक्षता से, तन्मयता से, एकाग्रता से, रुचि पूर्वक करता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह उस लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है और सफल हो जाता है। लक्ष्य चाहे छोटा हो या बड़ा उसे प्राप्त करने के लिए यही प्रक्रिया है।

हे व्रतों के स्वामी परमपिता ! प्रत्येक शुभ कार्य के लिए हम मन में दृढ़ता से संकल्प धारण करें ऐसी प्रेरणा शीघ्र ही, आज ही प्रदान करो। उस संकल्प को हम कदापि न भूलें, न छोड़ें, न तोड़ें। आप के द्वारा सतत उत्साह, बल, साहस, पराक्रम, प्रेरणा, ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके, बिना रुके, बिना झुके, बिना भटके, बिना अटके सतत चलते रहें, विश्राम तभी करें जब लक्ष्य प्राप्त हो जाये।

★★★

(१६)

त्र्यायुषं जमदग्ने कश्यपश्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम्।। यजुर्वेद ३/६२

शब्दार्थः - **त्र्यायुषम्** - तीन गुनी अधिक अर्थात् चार सौ वर्ष की आयु करो, **जमदग्नेः** - आँख, कान, हाथ, पाँव आदि इन्द्रियों की, **कश्यपश्य** - प्राण शक्ति भी, **त्र्यायुषम्** - आयु भी तीन गुनी, ४०० वर्ष करो, **यत्** - जैसे, **देवेषु** - ज्ञानी, विद्वान्, संयमी की, **त्र्यायुषम्** - तीन गुनी आयु होती है, **तत् नः** - वैसे ही हमारी भी, **अस्तु** - होवें, **त्र्यायुषम्** - तीन गुनी आयु।

भावार्थ - शरीरधारी मनुष्यों की अधिकाधिक जीने की स्वाभाविक इच्छा होती है। कोई मरना नहीं चाहता है। यहाँ तक कि जीने के लिए, अधिक आयु प्राप्त करने के लिए उसके पास जो कुछ भी है वह दाँव लगा देता है। पुनरपि मृत्यु तो आती ही है। आज के वैज्ञानिकों ने मनुष्य की आयु बढ़ाने के लिए अनेक विध प्रयास किये हैं, कर रहे हैं। एक प्रश्न प्रायः उत्पन्न होता है कि मनुष्य का आयुष्य कितना है ? सामान्य रूप से मनुष्य की आयु १०० वर्ष की आँकी गयी है। क्या यह निश्चित है ? उसे घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता है ? वैदिक सिद्धान्त यह दर्शाता है कि मनुष्य की आयु निश्चित नहीं है। इसे अपने वर्तमान के कर्मों से घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

इस वेद मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना की गई है कि हे परमेश्वर ! मेरी आयु ३०० वर्ष की हो जावे। मेरा शरीर, मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ आदि कर्म करने व विषयों को भोगने के शारीरिक साधन तीन गुना अर्थात् मैं तीन सौ वर्षों तक देखता-सुनता, खाता-पीता, चलता-फिरता, पढ़ता-लिखता, विचारता रहूँ। यह

तभी संभव है जब मनुष्य प्राणशक्ति को भी बनाये रखें। आँखें होते हुवे भी निर्बल, रोगी, वृद्ध मनुष्य देख नहीं पाता है। कान होते हुवे भी सुन नहीं पाता है। टाँगे होते हुवे भी चल नहीं पाता है। हाथों से पकड़ा नहीं जाता है। पेट होते हुवे भी भूख नहीं होती है। मन होते हुवे भी यादशक्ति नहीं रहती है। बुद्धि होते हुवे भी निर्णय नहीं ले पाता है। यह सब प्राणशक्ति का अभाव होने से होता है। वेद कहता है कि केवल साधन ही नहीं साधनों में भोगने का सामर्थ्य भी प्राप्त करो। शास्त्रोक्त आदर्श, ऋतु अनुकूल दिनचर्या, सात्त्विक भोजन, नियमित व्यायाम, पूर्ण निद्रा, ईश्वर का ध्यान, ऋषि कृत ग्रन्थों का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय, महापुरुषों का सत्संग, परोपकार, दान, सतर्कता, सावधानी, पुरुषार्थ, प्रसन्नता, शान्ति, संयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का सेवन करने से निश्चित ही मनुष्य की आयु बढ़ती है।

इसके विपरीत अस्त-व्यस्त दिनचर्या, तामसिक-राजसिक भोजन, अपूर्ण निद्रा, आलस्य, प्रमाद, लम्पटता, बुरे व्यक्तियों का संग, असावधानी, असंयम, व्यभिचार, हिंसा, झूठ, छल, कपट, चोरी, चंचलता, लोभ, मोह, ईष्या, द्वेष आदि अवगुणों का सेवन करने से आयु न्यून हो जाती है। उदाहरण के लिए साईकल-स्कूटर की सामान्य रूप से गारंटी १-२ वर्ष की होती है। किन्तु कोई व्यक्ति सतर्कता, सावधानी से उसका उपयोग करता है तो वह २ की बजाय ४-६, ८-१०, १५-२० वर्ष तक भी चलती रहती है। इसके विपरीत लापरवाही, असावधानी से प्रयोग करने वाला, रख रखाव न करनेवाले व्यक्ति की गाड़ी कुछ ही मासों में बल्कि कुछ ही दिनों में, कभी-कभी तो तत्काल भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। ऐसी ही स्थिति शरीर की है।

मनुष्य का शरीर भी गाड़ी के समान है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस शरीर को कैसे चलाना है यह सब विस्तार से लिखा है। दुर्भाग्य है जो शारीरिक शक्ति, बल, रूप, रंग, लावण्य, आयु बढ़ाने वाले ब्रह्मचर्य आदि उपाय वेदों में बताये गये हैं, उनका

पालन ही नहीं बल्कि खण्डन किया जा रहा है। जबकि वैदिक चिकित्सा शास्त्र चरक में ब्रह्मचर्य को आयु बढ़ाने वाले उपायों में सबसे प्रथम बताया गया है। वीर्यतत्त्व जो कि शरीर में विद्यमान धातुएँ हैं उनका सार है उसे शरीर इन्द्रिय, मन आदि साधनों को शक्ति प्रदान करने वाला प्राण-ईंधन बताया गया है।

इस वीर्य की जब ऊर्ध्वगति होती है तो न केवल आयुष्य की वृद्धि होती है अपितु बुद्धि सात्त्विक, मेधावी, ऋतम्भरा बनती है। मन में पुरुषार्थ, तपस्या, त्याग, धैर्य तथा कार्य करने की क्षमता बढ़ती है और आत्मा में आनन्द, शान्ति, सन्तोष उत्पन्न होते हैं। इसके विपरीत वीर्य आदि धातु मैथुन, व्यभिचार, प्रमेह आदि के कारण अधोगति को प्राप्त होते हैं तो शरीर निस्तेज, विभिन्न रोगों से ग्रस्त होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। प्राणायाम, व्यायाम, ध्यान के माध्यम से वीर्य को शरीर में ही पचाकर इसे ऊर्ध्व गति प्रदान की जा सकती है।

हे प्रभो ! आपसे विनम्र प्रार्थना करते हैं कि प्राचीन काल में जैसे हमारे ऋषि, महर्षि, वीर, योद्धा, यति, मुनि आयुर्वेदिक शास्त्रों के नियमों का श्रद्धा पूर्वक पालन करते हुवे ३००-४०० वर्षों की लम्बी आयु को प्राप्त करते थे वैसे ही हम भी सुख, शान्ति पूर्वक लम्बी आयु को प्राप्त करें।

★★★

(१७)

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन।। यजुर्वेद ३/१

शब्दार्थः – **समिधा** – यज्ञ कुण्ड में पीपल, बड़ आदि की लकड़ियाँ रखकर, **अग्निम्** – अग्नि का, **दुवस्यत** – सेवन करो, जलाओ, **घृतेः** – गाय के घी से, **बोधयत** – उस अग्नि को तीव्र करो, **अतिथिम्** – जो अतिथि के समान आदर के योग्य है, **अस्मिन्** – उस अग्नि में, **हव्या** – अनेक प्रकार के दिव्य औषधियों से निर्मित सामग्री को, **आ जुहोतन** – अच्छी प्रकार से जलाकर यज्ञ करो।

भावार्थ – वेदों में अग्नि तत्त्व की महिमा बहुत दर्शाई गयी है और उसका अनेक प्रकार से उपयोग लेने का भी विधान किया गया है। अग्नि से जहाँ भोजन बनाने, भवन बनाने, कल कारखाने लगाने, जल यान, वायु यान, भूमि यान आदि अनेक प्रकार से यन्त्र का निर्माण-संचालन करके लाभ उठाने का वर्णन है, वहाँ पर पर्यावरण की शुद्धि के लिए अग्निहोत्र-हवन करने का भी अनेकत्र विधान आया है।

अग्निहोत्र एक भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया है जिसमें उल्टे पिरामिड के आकार वाला धातु का बर्तन लिया जाता है क्योंकि ऐसे आकार वाले पात्र में लकड़ी जलाने से अग्नि का तापमान खुली अग्नि से अनेक गुना अधिक (४००-५०० फारेनहाईट) बनता है।

इस पात्र में पीपल, बड़, आम आदि की पतली-छोटी लकड़ियाँ रखकर जलाई जाती है। यह लकडियाँ शीघ्र जलने वाली, तीव्र अग्नि उत्पन्न करने वाली, कम कार्बन मोनोक्साईड उत्पन्न करने वाली तथा पूरी-पूरी जलने वाली होती है। इस अग्नि को और अधिक

तीव्र करने के लिए गाय का घी उन जलती लकड़ियों पर चम्मच से धीरे-धीरे डाला जाता है। गाय के घी को जलाने से अनेक प्रकार की विशिष्ट गैस बनती है जो भूमि व आकाश में व्याप्त दूषित वायु और जल-प्रदूषण को शीघ्रता से समाप्त कर देती है।

जब यज्ञ कुण्ड में गाय के घी से लकड़ियाँ अच्छी प्रकार से प्रज्वलित हो जाती हैं तब अग्नि में चार प्रकार के पदार्थों से बनी हुई हव्य सामग्री डाली जाती है।

यह हव्य सामग्री गिलोय आदि रोगनाशक औषधियाँ, केशर, कस्तूरी, अगर-तगर आदि सुगन्धित वस्तु, घी, दूध आदि पुष्टिकारक द्रव्य तथा गुड, किशमिश, खजूर आदि मधुर पदार्थों को कूट-पीस कर, मिला कर बनाई जाती है। इन ४०-५० प्रकार की विशिष्ट औषधियों, जड़ी-बूटियों, वनस्पतियों, फलों, फूलों, कन्दों, अन्नों से बनी इस सामग्री को तीव्र अग्नि में जलाने से अनेक प्रकार की गैसों का निर्माण होता है। जिसे वैदिक भाषा में भेषज वायु कहा जाता है। ये गैसें सूर्य की किरणों के माध्यम से आकाश में ऊपर जाकर प्रदूषित वायु तथा पानी को शीघ्र ही शुद्ध कर देती है।

वायु व पानी के शुद्ध होने से भूमि भी शुद्ध बनती है और भूमि के शुद्ध होने से इससे उत्पन्न होने वाले अन्न, शाक, फल, फूल, कन्दमूल, औषधियाँ आदि भी शुद्ध होते हैं और इन खाद्यान्नों के शुद्ध होने से मनुष्यों के रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य, रज आदि धातुएँ शुद्ध होती हैं और शरीर की इन धातुओं के शुद्ध होने से मनुष्यों के मन, बुद्धि, अन्तःकरण भी पवित्र-सात्त्विक बनते हैं और जब ये अन्तःकरण पवित्र होते हैं तो मनुष्य का आत्मा भी ठीक विचारता है, ठीक बोलता है और ठीक कर्म करता है। इनके अपवित्र होने से गलत विचारता है, गलत बोलता है, गलत करता है।

इसलिए वैदिक जीवन पद्धति में प्रतिदिन प्रातः-सायं दोनों समय अग्निहोत्र करने का विधान है। इस प्रक्रिया में मात्र १०-१५ रुपयों का व्यय होता है तथा १०-१५ मिनट का समय लगता है।

किन्तु इस अल्प व्यय, अल्प समय वाली छोटी सी रासायनिक प्रक्रिया से हजारों घन मीटर वायु शुद्ध होती है और इससे न केवल मनुष्यों को अपितु पशु-पक्षी, कीट-पतंग यहाँ तक कि वृक्ष-वनस्पति, कन्द मूल को भी लाभ पहुँचता है।

जब तक इस धरती पर घरों में प्रतिदिन दैनिक अग्निहोत्र होता रहा तब तक लोग स्वस्थ, बलवान, बुद्धिमान, दीर्घायु होते थे किन्तु यह प्रक्रिया जब से बन्द हुई तब से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सब प्रकार से पतन हुआ है। मनुष्यों द्वारा पर्यावरण की शुद्धि की इस प्रक्रिया के रुक जाने से सारा संसार एक गेस चैम्बर के समान बन गया है। ग्लोबल वार्मिंग का भस्मासुर सब कुछ का विनाश करने को तैयार है।

वेद मन्त्र मनुष्य को निर्देश करता है कि हे मनुष्यो ! इस अतिथि के समान अग्नि को यज्ञ कुण्ड में स्थापित करके इससे होने वाले अनेक प्रकार के लाभों को प्राप्त करो। इस अग्निहोत्र से निकली ज्वाला आपके घरों, ग्रामों, नगरो में फैले अनेक प्रकार के रोग के कीटाणुओं को तत्काल नष्ट कर देगी। थोड़े से परिश्रम, थोड़े से साधनों व थोड़े से समय में बहुत अधिक लाभ होने के कारण इस कार्य को श्रेष्ठतम कर्म बताया गया है।

रुस, जर्मनी, हॉलैण्ड, चीली, अमेरिका आदि देशों में अनेक वैज्ञानिकों ने भी जलती अग्नि में केशर, किशमिश, चावल, जौ, गुगल, शक्कर, गुड़ आदि पदार्थों को जलाने पर बनने वाली गैसों के लाभों का उल्लेख किया है। उनकी बुद्धि में यह विश्वास बनता जा रहा है कि प्राचीन काल में भारतीय जिस अग्निहोत्र से पर्यावरण शुद्ध करते थे वह वास्तव में अति उपयोगी है। वेद के इस संदेश को जीवन में क्रियान्वित करके हम अपने परिवार समाज व राष्ट्र तथा विश्व के न केवल भौतिक प्रदूषण को दूर करें अपितु बौद्धिक, आत्मिक प्रदूषण को भी दूर करने हेतु इस अग्निहोत्र परम्परा को प्रारंभ करें, यही ईश्वर से प्रार्थना है।

★★★

(१८)

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कर्विमनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।। यजुर्वेद ४०/८

शब्दार्थः – **सः** – वह ईश्वर, **परि अगात्** – सर्व व्यापक है, **शुक्रम्** – अत्यन्त पराक्रमी है, **अकायम्** – शरीर रहित है, **अव्रणम्** – कटने से रहित है, **अस्नाविरम्** – नाड़ी आदि बन्धन से रहित है, **शुद्धम्** – पवित्र है, **अपापविद्धम्** – पाप से रहित है, **कविः** – सर्वज्ञ है, **मनीषी** – सबके मन का साक्षी है, **परिभूः** – सबके ऊपर विद्यमान है, **स्वयंभूः** – अनादि है, **याथातथ्यतः अर्थान्** – अर्थात् समस्त पदार्थों, व्यवहारों का ज्ञान वेद द्वारा, **व्यदधात्** – कराता है, **शाश्वतीभ्य** – अपनी अनादि सनातन, **समाभ्यः** – प्रजा को।

भावार्थ – इस मन्त्र के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है तथा मिथ्या धारणाएँ समाप्त हो जाती हैं। अज्ञान की अन्धपरम्परा के कारण आज देश-विदेश में ईश्वर के विषय में अनेक प्रकार की विरोधाभासी मान्यताएँ बनी हुई हैं और इन्हीं भेदक मान्यताओं के कारण सारा विश्व ईश्वर के विषय में सैकड़ों-हजारों मत-मतान्तरों, पंथों, गुरुडमों, सम्प्रदायों में बँट गया है तथा वे अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप ईश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना आदि करते हैं। स्वयं को ही ठीक मानते हैं और अन्यों के ईश्वर, धर्म, मान्यताएँ, सिद्धान्त, उपासना आदि को मिथ्या मानते हैं।

मन्त्र में सर्वप्रथम बताया गया है कि कल्पनातीत विशाल ब्रह्माण्ड को बनाने वाला ईश्वर एकदेशी न होकर ब्रह्माण्ड से भी बड़ा है और सारे ब्रह्माण्ड में व्यापक है क्योंकि एक स्थान में रहने

वाला इतने बड़े ब्रह्माण्ड को न बना सकता है, न इसे चला सकता है। ईश्वर ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान ही नहीं है अपितु वह महान् शक्तिशाली, पराक्रमी भी है। आश्चर्य तो यह है कि वह इतना बड़ा परम शक्तिशाली होते हुवे, रंग, रूप, आकार, भार वाला, हाथ-पाँव, आँख-नाक वाला न होकर शरीर रहित है। जैसे हम मनुष्यों, पशु-पक्षियों के शरीर हैं वैसे उसका शरीर नहीं है और जब स्थूल हाड़-मांस आदि से रहित बिना शरीर वाला है तो उसकी नस-नाड़ियां, रक्त आदि भी नहीं है। ईश्वर का कटना, जलना, टूटना, रोगी होना, मरना भी नहीं होता है और न ही ईश्वर में राग, द्वेष, ईर्ष्या, भूख, प्यास आदि होते हैं, न ईश्वर झूठ, छल, कपट, हिंसा, चोरी आदि पाप करता है। जैसे कि शरीरधारी मनुष्यों में ये पाये जाते हैं।

शरीर रहित, निराकार, सर्वव्यापक, चेतन होने के कारण ही वह सर्वज्ञ है। हम मनुष्यों ने बचपन से लेकर अब तक मन, वाणी, शरीर से जितने अच्छे-बुरे कर्म किये हैं उन सबको वह जानता है। मनुष्य मन में क्या विचारता है इस बात का भी पता ईश्वर को चल जाता है। हम अपने मन की बातों को अपने माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री से छुपा लेते हैं किन्तु ईश्वर हमारे मन की सभी बातों को जान लेता है।

संसार में राग, द्वेष, स्वार्थ, अज्ञान के कारण कोई किसी को निरपराध भी दण्ड दे देता है अथवा किसी को बुरे कर्मों का फल मिलता भी नहीं है किन्तु परमेश्वर राजाओं का भी राजा है, न्यायाधीशों का भी न्यायाधीश है, वह सबसे ऊपर है, अन्तिम निर्णय उसका होता है। एक चालाक अपराधी सारे संसार के व्यक्तियों से दण्ड रूपी फल प्राप्त करने से बच भी जाये किन्तु उस सर्वोपरि न्यायाधीश से कोई भी बच नहीं सकता है। वह परिभू है।

हम मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जीव उस परमात्मा की प्रजा हैं, पुत्र हैं। उसी निराकार सर्वव्यापक परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में

मनुष्यों को चारों वेदों का ज्ञान दिया। जिसमें संसार की सभी वस्तुओं का ज्ञान कराया और उनका उपयोग कैसे करना है यह भी बताया। हमें कोई नया आविष्कार नहीं करना है बल्कि ईश्वर द्वारा वेदों में बताये गये निर्देशों को विधि-विधानों को, नीति-नियमों को, अनुशासनों को पढ़ना मात्र है। यदि मनुष्य वेदों में बताये गये व्यावहारिक नियमों को ठीक प्रकार से जान ले तो सारी समस्याएँ ही समाप्त हो जायें।

उपर्युक्त प्रकार के गुण, कर्म, स्वभाव वाले परमपिता परमात्मा का जो मनुष्य प्रातः-सायं एकान्त में बैठ कर, आसन लगा कर, आँखें बन्द करके, प्राणायाम द्वारा, मन-इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियों को रोक कर, अन्तर्मुखी बन कर ध्यान करता है और हृदय में बैठे उस परमेश्वर के पूर्ण समर्पित होकर ज्ञान, बल, आनन्द आदि गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना करता है उसको ईश्वर निश्चित ही अद्‌भुत व आश्चर्यजनक गुणों से परिपूर्ण कर देता है।

सच्चे ईश्वर का सच्चा भक्त सच्चे मन से भक्ति करता है तभी उसको मन में उपस्थित काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को दबाने का, उन्हें समाप्त करने का सामर्थ्य मिलता है। इतना ही नहीं वह समाज, राष्ट्र में विद्यमान बुराईयों को नष्ट करने हेतु पूर्ण धैर्य, साहस, पराक्रम के साथ तन, मन, धन लगाकर, संगठित होकर, पुरुषार्थ करके अपने उद्देश्य में सफल हो जाता है। एकदेशी जड़ वस्तु को ईश्वर मानकर, उसकी उपासना करने से तो असफलता ही मिलती है। वेदादि सत्य शास्त्रों का स्वाध्याय करके, सच्चे ईश्वर का स्वरूप जानकर अपने जीवन को सफल करें तथा समाज, राष्ट्र को भी सर्वोन्नति की ओर ले जायें, यही हमारी ईश्वर से प्रार्थना है।

★★★

(१६)

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च।। अथर्ववेद १२/५/८

शब्दार्थः – **ब्रह्म च** – विद्वानों को बढ़ाना चाहिए, **क्षत्रम् च** – अन्याय को नष्ट करने वाले वीर पुरुष उत्पन्न करने चाहिए, **राष्ट्रम् च** – उत्तम नियमों से युक्त राज्य की स्थापना करनी चाहिए, **विशश्च** – धन को बढ़ाने वाले व्यापारियों का निर्माण करना चाहिए, **त्विषिश्च** – शुभ गुणों का प्रकाश करना, **यशश्च** – उत्तम कीर्ति को बढ़ाना, **वर्चश्च** – तेज को, सौंदर्य को बढ़ाना, **द्रविणम् च** – धन-सम्पति को बढ़ाना ये माननीय धर्म हैं।

भावार्थ – परमपिता परमात्मा ने वेदों में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और विश्वस्तर की उन्नति के लिए कर्त्तव्य, सिद्धान्त, नीति-नियम, विधि-विधानों का ज्ञान प्रदान किया है। इनका पालन करने से मनुष्यों की सर्वांगीण उन्नति होती है। ये नियम किसी विशेष देश, जाति, मत, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, भूषा, रंग-रूप, आकार वालों के लिए न होकर सार्वभौमिक, सर्व कालिक, सार्वजनिक हैं, क्योंकि परमात्मा के लिए सभी मनुष्य उसके पुत्र के समान हैं। वह पक्षपात रहित सर्वहितकारी है। ये देश, जाति, मत, पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, भूषा, नीति-नियम हम मनुष्यों ने बनाये हैं, न कि ईश्वर ने।

वेद मन्त्र में प्रथम बात बतायी गयी है कि यदि समाज, राष्ट्र, विश्व को उन्नत बनाना हो तो सर्वप्रथम सदाचारी, जितेन्द्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, धर्मात्मा, त्यागी, तपस्वी, विनम्र, विद्वान् अध्यापकों, आचार्यों, प्रवक्ताओं, शिक्षकों का निर्माण करना चाहिए। ये विद्वान् शिक्षक न केवल विद्यालयों में नई पीढ़ी को विद्या, चरित्र, धर्म, संयम आदि की शिक्षा करें अपितु गाँव, नगर, राष्ट्र में घूम-घूम कर अविद्या, पाखण्ड, अन्धविश्वास, दुराचार, दम्भ आदि दुर्गुणों

को नष्ट करने के अधिकार के लिये साथ और साहस पूर्वक खण्डन करके समाज के व्यक्तियों को राष्ट्रभक्ति, ईश्वरभक्ति, पितृभक्ति, गुरुभक्ति, सेवा, परोपकार, दया, क्षमा आदि शुभ गुणों से युक्त करें। यह अधिकार उपर्युक्त गुणों वाले व्यक्ति को ही देना चाहिए। धनलोलुप, विलासी, स्वार्थी, पक्षपाती व्यक्तियों को नहीं।

मन्त्र में दूसरी बात बतायी गई है कि ऐसे शूरवीर, निर्भीक, साहसी, पराक्रमी, शौर्यवान्, बलवानों का निर्माण करना, उनका संगठन बनाना चाहिए जो समाज में व्याप्त अन्याय, उत्पीड़न, आतंक, भय, चिन्ता, संशय, पक्षपात को निर्मूल कर सकें। जिनकी शक्ति, बल, अधिकार से चोर, डाकू, लुटेरे, हत्यारे, रिश्वतखोर, मिलावट करने वाले झूठे, छली, कपटी, धोखा देने वाले सभी दुष्ट डरते रहें। यदि कोई अभिमान में आकर कोई निन्दनीय कार्य करे तो उसे सहसा, शीघ्र व कठोर से कठोर दण्ड दे दे।

मन्त्र में तीसरी बात बतायी कि धार्मिक, विद्वान्, अनुभवी, अनुशासित, शुभ गुणों से युक्त व्यक्तियों की राज सभा बनानी चाहिए। जो पूरे राज्य का कुशलतया संचालन कर सके। राज्याधिकारी पूरे राज्य में से चुन-चुन कर लेने चाहिए जो विशिष्ट विद्याओं, कलाओं, गुणों में प्रवीण हो और राज्य का (देश का) सब प्रकार से सुव्यवस्थित, संचालन कर सके।

मन्त्र में चौथी बात कही गयी है कि विभिन्न खाद्यान्नों, खनिजों, कृषि उत्पादों, पशुओं, कल कारखानों, कला, शिल्प, भूमि, जल, आकाश में चलने वाले वाहनों व अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं, संसाधनों के विशेषज्ञ, व्यवसायिकों को प्रशिक्षित करना चाहिए जो समाज, राज्य के किसी भी भाग में अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अकाल आदि के कारण वस्तुओं के अभाव को उत्तम रीति से दूर कर दे ताकि भूखमरी, जल अभाव आदि से किसी की अकाल मृत्यु न हो।

मन्त्र में पाँचवीं बात कही है कि समाज के व्यक्ति धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य के अधिकता होने के कारण आलसी प्रमादी,

अश्लील, विषयभोगी, स्वार्थी, नास्तिक न बन जायें इसलिए राजा, नेताओं, विद्वानों, अग्रणी महानुभावों द्वारा शिष्टता, सभ्यता, सदाचार, संयम, विनम्रता आदि शुभ गुणों का प्रचार-प्रसार हर प्रकार के प्रचार माध्यम से सदैव करते रहना चाहिए।

मन्त्र में छठी बात बतायी गयी है कि कला, शिक्षा, शिल्प, कृषि, विज्ञान, उद्योगों की स्थापना तथा अन्य उत्तम-उत्तम विशिष्ट आश्चर्यजनक उत्पादों का निर्माण करके फैलाना चाहिए जिससे समाज के लोगों में उत्साह, आनन्द, प्रसन्नता, सन्तोष बना रहे।

मन्त्र में सातवीं बात बतायी गयी है कि हमारे राष्ट्र में रहने वाले मनुष्यों के शरीर अच्छे रूप-रंग, आकार, सौष्ठव, लावण्य, बल तथा तेज से युक्त अत्यन्त सुन्दर तथा आकर्षक होना चाहिए ऐसा प्रयास करें। इतना ही नहीं हमारे भवन, उद्यान, राजमार्ग, गलियाँ, तालाब, झरने, खेत, खलिहान, जलाशय, बाँध, वाहन आदि सभी शुद्ध, सुव्यवस्थित, रोचक होने चाहिए। जिससे उनका वर्चस्व सर्वत्र प्रसारित हों।

मन्त्र में अन्तिम आठवीं बात बतायी गयी है कि भूमि में विभिन्न अन्न, फल-फूल, शाक आदि, कल कारखानों, उद्योगों, खनिजों तथा अन्य प्रकार के व्यवसायिक संसाधनों का उत्पादन करके उनका देश-विदेश में व्यापार करके धन-सम्पत्ति को अत्यन्त बढ़ाने चाहिए और उनका समाज, राष्ट्र, विश्व के लोगों के कल्याणार्थ व्यय करना चाहिए। गरीबी, निर्धनता, अभाव, राष्ट्र को कमजोर बना देते हैं।

उपर्युक्त आठ बातों का परिपालन दक्षता पूर्वक समाज, देश में हो जाये तो हमारा राष्ट्र सशक्त, उन्नत, सुखी बन सकता है अन्यथा नहीं। परमपिता परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है कि हम राष्ट्र को अज्ञान, अन्याय, अभावसे रहित धन, बल, शिक्षा, चरित्र, आनन्द आदि गुणों से सुसम्पन्न बनावें।

★★★

(२०)

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुंलम्।।

यजुर्वेद ३१/१

शब्दार्थः - **सहस्त्रशीर्षा** - असंख्य सिर हैं जिसमें, **सहस्त्राक्षः** - असंख्य आँखे हैं जिसमें, **सहस्त्रपात्** - असंख्य पाँव हैं जिसमें, **सः** - और वह, **भूमिम्** - इस पृथ्वी आदि लोकों को, **दशाङ्गुलम्** - पाँच स्थूल, पाँच सूक्ष्म भूतों को, **सर्वत्** - सब ओर से धारण करता हुआ, व्यापक होता हुआ, **अत्यतिष्ठत्** - उससे बाहर भी स्थित है।

भावार्थ - इस वेद मन्त्र में ईश्वर का परिमाण बताया गया है कि वह कितना लम्बा-चौड़ा है और उसका स्वरूप क्या है। पहली बात बतायी गयी है कि ईश्वर के अनेक नामों में से एक नाम पुरुष है। पुरुष का अर्थ है जो पुरी - (संसार) में व्यापक रूप से स्थित है। जैसे पानी से भरी बाल्टी में रुई डालते हैं तो उस रुई के बाहर भी पानी होता है और अन्दर भी। दूसरा उदाहरण रसगुल्ले का ले सकते हैं। रस में रसगुल्ला होता है और रसगुल्ले में रस होता है, ऐसे ही ईश्वर अनन्त विशाल ब्रह्माण्ड में अन्दर-बाहर व्यापक होकर रहता है।

ब्रह्माण्ड, हम अल्पज्ञ जीवों के लिए अनन्त है क्योंकि हम उसकी लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। आज के वैज्ञानिक भी बड़े-बड़े दूरदर्शी यंत्र बनाकर वेधशाला में इस विशाल ब्रह्माण्ड के विषय में जानने का प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने अब तक १० अरब (10 Trillion) आकाशगंगाओं का पता लगाया है। एक-एक आकाशगंगा में अरबों सौर मण्डल (सूर्य, ग्रह, उपग्रह) होते हैं और एक-एक सौर मण्डल में हमारी जैसी एक या

अनेक पृथिवियाँ भी हो सकती हैं। वैज्ञानिक कह रहे हैं कि हमारे दूरदर्शी यंत्र कम शक्तिशाली हैं, यदि भविष्य में अधिक शक्तिशाली बना लेंगे तो और अधिक आकाशगंगाओं का पता चल सकेगा अथवा जो अन्तिम आकाशगंगा हमें दिखाई दे रही है उसके किसी उपग्रह पर जाकर अपने यंत्र स्थापित करके देखें तो चारों ओर कई गुनी आकाश गंगायें हमें दिखाई देंगी, वे ऐसी संभावना करते हैं। अर्थात् हम क्षुद्र, अल्पज्ञ मनुष्य उस ईश्वर की विशालता को माप नहीं सकते हैं।

पुरुष का दूसरा अर्थ है जो हम मनुष्य आदि प्राणियों के शरीरों में व्यापक है अर्थात् हमारे हाथ-पाँव, सिर-पेट, आँख, नाक, कान, मुँह, हृदय, मन, बुद्धि, आत्मा में भी वह व्यापक है। वह माँ के पेट में हम मनुष्यों के शरीरों की रचना करके अलग नहीं हो गया है जैसे कि कोई कारीगर किसी यंत्र आदि वस्तुओं को बनाकर उससे अलग हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर हमारे शरीरों को बनाकर हमसे अलग नहीं हो गया है बल्कि जन्म से लेकर सदा हमारे शरीर में बैठा हुआ है। उसी की शक्ति से हम चलते हैं, देखते हैं, सुनते हैं, लिखते हैं, खाते हैं, पीते हैं। वही हमारे द्वारा खाये गये भोजन को पचाता है और फिर उसको रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, रज, वीर्य आदि धातुओं में बदल कर यथा स्थान उन सब रस आदि को नियोजित करता है। उसी ईश्वर के कारण हम श्वास-प्रश्वास लेते हैं। सारी इन्द्रियाँ व शरीर के अन्य अवयव उसी की शक्ति, सहायता से काम करते हैं।

यदि ईश्वर एक क्षण के लिए भी अपनी शक्ति, सहायता देना बन्द कर दे तो यह शरीर मृत हो जाये। इतना ही नहीं कि वह मात्र शरीर को जीवित रखे हुवे है अपितु हमारे शरीर, वाणी, मन आदि प्रत्येक साधनों के द्वारा प्रत्येक क्षण किये जाने वाले कर्मों को साक्षी रूप में देखता है और सारा हिसाब भी रखता है। ऐसे शरीर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा आत्मा में व्यापक कर्मों के साक्षी चेतन स्वरूप ईश्वर का नाम पुरुष है।

वेद मन्त्र में बताया बया है कि इस विशाल ब्रह्माण्ड में जितने भी पदार्थ हैं उनमें तथा वे पदार्थ जिन तत्त्वों (=प्रकृति) से बने हैं उन सब में ईश्वर ठसाठस भरा हुआ है। वेद में संसार के मूल कारण तीन बताये गये हैं। वे हैं - सत्त्व, रज, तम। ये तीन मूल तत्त्व अति सूक्ष्म हैं व अदृश्य भी हैं। जैसे कि आजकल के वैज्ञानिक न्यूट्रोन, इलॅक्ट्रोन, प्रोटोन या क्वार्क्स या एनर्जी को इस संसार के समस्त पदार्थों का मूल कारण मानते हैं।

इन सत्त्व, रज, तम तीन तत्त्वों से सर्व प्रथम ईश्वर 'महत्' नामक तत्त्व बनाता है जिसे लौकिक भाषा में ''बुद्धि'' कहते हैं। जो निर्णय लेने का काम करती है, महत् के बाद अहंकार नामक तत्त्व बनाता है जिससे जीव अपनी स्वयं की अनुभूति करता है। तत् पश्चात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हस्त, पाद, जिह्वा, पायु, उपस्थ) तदुपरान्त मन और फिर पाँच सूक्ष्म भूत (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध तन्मात्र) और अन्त में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँच स्थूल भूत बनाता है और इन्हीं पाँच भूतों से सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि पदार्थों को बनाता है। इन समस्त पदार्थों में जो विद्यमान रहता है उसका नाम पुरुष है।

ईश्वर की हम पर कृपा हो कि जो हमारे अन्दर सदा बैठा है, जिसमें हम चलते हैं, खाते हैं, पीते हैं, पढ़ते हैं, सोते हैं। जो हमारे आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, अन्दर-बाहर सब दिशाओं में परिपूर्ण है। ऐसे पुरुष को ईश्वर समझ कर उसकी उपासना करें, न कि एकदेशी, अल्पज्ञ, अनित्य, अल्पशक्तिमान, जड़ की उपासना करें। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, निराकार, सर्वशक्तिमान ईश्वर की उपासना से हम ज्ञान, बल, आनन्द को प्राप्त करके जीवन को सफल बना सकते हैं, अन्यथा नहीं।

★★★

(२१)

परोपेहि मनस्पाप किमशंस्तानि शंससि।
परेहि न त्वां कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः।।

अथर्ववेद ६/४५/१

शब्दार्थः – **परः** – दूर, **अपेहि** – हट जा, **मनः** – मेरे मन के, **पाप** – बुरे विचार, **किम्** – क्यों तू, **अशंस्तानि** – निन्दित कार्यों की, **शंससि** – प्रशंसा करता है, **परा** – दूर, **इहि** – चला जा, **न** – नहीं, **त्वाम्** – तुझे, **कामये** – मैं चाहता हूँ, **वृक्षान्** – पेड़ों में, **वनानि** – जंगलों में, **संचर** – तू चला जा, **गृहेषु** – घर में, **गोषु** – गायों में, **मे** – मेरा, **मनः** – मन लगा हुआ है।

भावार्थ – सभी धार्मिक ग्रन्थों में, सभी सम्प्रदायों में पाप न करने का उपदेश दिया गया है। यह पाप क्या है और क्यों इसका निषेध है ? वेद में पाप उन कर्मों को कहा गया है जो करने योग्य नहीं हैं। क्यों करने योग्य नहीं हैं ? क्योंकि इसके करने से स्वयं की और अन्यों की हानि होती है।

प्रायः सामान्य व्यक्तियों के मन में झूठ, छल, कपट, चोरी, दुराचार, रिश्वत, अन्याय, पक्षपात, निन्दा आदि से सम्बन्धित बुरे विचार उत्पन्न होते ही रहते हैं। किसी के कम तो किसी के अधिक, कभी किसी बुराई के सम्बन्ध में तो कभी किसी अन्य बुराई के सम्बन्ध में। कदाचित् मन में सात्त्विक अवस्था उभरती है तो इन बुरे कर्मों को न करने की भी इच्छा होती है और कभी राजसिक स्थिति में द्वन्द्व चलता रहता है कि करुँ या न करुँ। बुरा काम करने के पक्ष में तर्क-वितर्क मन में उत्पन्न होते हैं तो कभी न करने के पक्ष में।

बुरा काम करने के पक्ष में ऐसे-ऐसे तर्क मन में उभरतें हैं कि जब सारी दुनियाँ ही यह काम कर रही है, मैं कर लूंगा तो क्या बुराई है ? अभी तो कलियुग चल रहा है। बिना पाप के तो

कोई जी भी नहीं सकता है। मैं तो बहुत कम मात्रा में बुरा काम कर रहा हूँ। लोग तो न जाने कितने बड़े-बड़े पाप करते हैं। बस एक बार-इस बार ही यह काम करुँगा। आगे भविष्य में कभी भी नहीं करुँगा। मेरी इस बुराई से किसी व्यक्ति को तो हानि नहीं होगी। इतने रुपये मिल जायेंगे इनको मैं अकेला थोड़े ही उपयोग करुँगा। सारे परिवार व मित्रों, सम्बन्धियों को भी इनसे लाभ पहुँचेगा और फिर कुछ दान, पुण्य, परोपकार करके समाज, गाँव देश को भी तो लाभ पहुँचा दूँगा। अच्छे-अच्छे कार्य में भी इस धन को लगा सकूँगा और इसका पता भी किसी को नहीं लगेगा। इसलिए किसी को दुःख भी नहीं होगा। इत्यादि अनेकों तर्क-वितर्क मन में उत्पन्न करके कच्चा, कमजोर, कम संस्कारी, कम धार्मिक व्यक्ति किसी काम को बुरा मानते हुए भी अपने व अन्यों के लिए हानिकारक जानते हुए भी लोभवशात् थोड़े से सुख, सुविधा, लाभ, भोग की प्राप्ति के लिए नहीं नहीं नहीं का मध्य-मध्य में विचार लाते हुए भी अन्त में कर ही लेता है।

मन में बुरे कर्म करने की इच्छा तभी उत्पन्न होती है जब मनुष्य की बुद्धि ऐसी बनी होती है कि यह काम बुरा नहीं है अथवा मैं इतनी चतुराई सावधानी से करुँगा कि कोई न देख सकेगा, न जान पायेगा और जब जान नहीं पायेगा तो मैं न बुरा बनूँगा, न मुझे कोई दण्ड मिलेगा।

बुरा काम कर लेने के उपरान्त प्रायः व्यक्ति यह स्वीकारने को भी तैयार नहीं होता है कि यह बुरा काम मैंने ही किया है, मैं ही दोषी हूँ, मैं ही दण्डनीय हूँ, अपराधी हूँ। वह दोष अन्यों पर डालता है। यह बुरा काम तो भूख ने कराया, पापी मन ने कराया है, समाज की अव्यवस्था ने कराया। कुछ लोग भूत-प्रेत को अपने पाप का कारण बताते हैं, कुछ तो इतने भोले-भाले हैं कि वैसे ही सीधे ईश्वर को ही अपने सारे बुरे कर्मों का कारण बना देते हैं। वे मानते हैं कि जो कुछ भी हम कर रहे हैं वह सब ईश्वर ही करवाता है। हम तो निमित्तमात्र हैं।

यह सब अज्ञान है। वैदिक सिद्धान्त यह है कि इस शरीर में मन, इन्द्रियों आदि से जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म होता है उसका कर्त्ता चेतन जीवात्मा है और कोई नहीं है। अच्छे-बुरे विचारों को मन नहीं उठाता है बल्कि जीवात्मा ही उठाता है। जब भी मन में बुरे विचार उठें तत्काल सतर्क, सावधान होकर उस बुरे विचार को मन से हटा देना चाहिए। मन तो जीवात्मा का टी.वी. है। टी.वी. में जितने भी चैनल हैं उनमें अच्छे-बुरे जो भी प्रोगाम आते हैं उन सब को रिमोट से चलाने वाले हम जीवात्मा ही हैं। हम जिस चैनल को देखना चाहते हैं उसको दबाकर देखते हैं, जिसको नहीं चाहते हैं उसको नहीं देखते हैं। वैसे ही मनरूपी टी.वी. में अच्छे-बुरे विचार रूपी चैनल को इच्छारूपी रिमोट से उठाने वाला जीवात्मा है।

वेद मन्त्र में मन में उठने वाले बुरे विचार को रोकने का उपाय बताया गया है कि जीवात्मा यदि कोई गन्दा, बुरा, अश्लील, पाप, विचार उठा ले तो तत्काल उसे यह कह कर बन्द कर देना चाहिए कि मैं इस बुरे विचारों को नहीं उठाऊँगा। उस बुरे विचार की प्रशंसा न करके उससे घृणा करनी चाहिए। उसके प्रति मन में क्रोध करना चाहिए और अपने आपसे कहना चाहिए कि मैं एक आस्तिक, धार्मिक, पुरुषार्थी, आदर्शवादी, सदाचारी व्यक्ति हूँ। ये गन्दे विचार तो मुझे पापी, अपराधी बना देंगे और इनके कारण मेरी बदनामी होगी। मैं ऐसा नहीं चाहता हूँ। मेरा घर है, मेरा परिवार है, माता-पिता, पत्नी, बच्चे हैं। उनकी बदनामी होगी। मेरी भूमि हैं, गायें हैं, अन्य पशु हैं उन सब की देख-रेख मैं करता हूँ वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे।

परमपिता परमात्मा से भी हम आत्मिक बल, मेधा बुद्धि, साहस, पराक्रम की प्रार्थना करें जिससे मन में उठने वाले समस्त बुरे विचारों को रोकने में समर्थ हो सकें।

★★★

(२२)

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।।

अथर्ववेद १/१/२

शब्दार्थः – **वाचस्पते** – हे वाणी के स्वामी अध्यापक !, **देवेन** – पवित्र, **मनसा** – विचार के, **सह** – साथ, **पुनः** – बार-बार, **एहि** – आईये-पढ़ाईये, **वसोः पते** – हे बहुत विद्याओं के जानने वाले आचार्य ! **निरमय** – मुझे ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण कर दे, **मयि एव** – मेरी बुद्धि में, **अस्तु** – स्थिर हो जाये, **मयि** – जो मैंने, **श्रुतम्** – सुना है।

भावार्थ – इस वेद मन्त्र में अध्यापक, आचार्य, गुरु की विशेषता बताते हुए विद्या कैसे प्राप्त की जाती है इसका उपदेश किया गया है। मन्त्र में आचार्य को वाणी का पति कह कर सम्बोधित किया गया है – अध्यापन करने वाला जिस विषय को पढ़ाता है वह उसे स्मरण होना चाहिए अर्थात् बिना ही किसी पुस्तक को देखे स्वतः पढ़ाने वाला होना चाहिए और ऐसा तभी हो सकता है जब उस विषय को वह स्वयं बार-बार पढ़ता हो और आचरण में भी लाता हो। क्योंकि व्यवहार में जिस विद्या को लाया जाता है वह विद्या बुद्धि में अच्छी प्रकार बैठ जाती है। उसे पढ़ाने के लिए पुस्तकों या संचिका को देखने की आवश्यकता नहीं रहती है जैसा कि आजकल हम स्कूल-कालेजों में देखते हैं।

मन्त्र में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह बतायी गयी कि अध्यापक जब पढ़ाने जाये तो पवित्र भाव, शुद्ध विचार वाला बनकर, प्रसन्न चित्त होकर, उत्साहित होकर परम पुरुषार्थ के साथ पढ़ाये। अध्यापकों के मन में यह लक्ष्य होना चाहिए कि मैं इन विद्यार्थियों को विद्या, बल, धर्म, चरित्र, सेवा, राष्ट्रप्रेम, ईश्वर भक्ति, निष्कामता की भावना से भर दूँगा। ये विद्यार्थी समाज, राष्ट्र के सभ्य, संस्कृत, निष्ठावान् भावी नागरिक बनेंगे। ये अपने

व्यक्तिगत जीवन को उन्नत, महान्, श्रेष्ठ बनायेंगे और इनके ज्ञान-विज्ञान, पुरुषार्थ, बुद्धि, बल से हमारा राष्ट्र भी सब प्रकार से उन्नत होगा।

अध्यापक विद्यार्थियों को अपने पुत्रों के समान मानकर न केवल पाठ्य पुस्तकों को पढ़ावे अपितु जीवनोपयोगी हर प्रकार की व्यावहारिक बातें भी उन्हें बताये। अध्यापकों का मन इन पवित्र भावों से तभी भरा होगा जब वे स्वयं ही चरित्रवान होंगे। उनका व्यक्तिगत जीवन आदर्श दिनचर्या, शुद्ध खान-पान, शालीन वेशभूषा, शिष्ट वार्तालाप तथा सभ्य व्यवहार से युक्त होगा अर्थात् जैसा वह देश के भावी नागरिकों को बनाना चाहते हैं वैसा वे स्वयं अपने जीवन को बनाकर दिखावें। वैदिक परम्परा यह है कि अध्यापक न केवल पुस्तकों को पढ़ाकर बल्कि अपने जीवन को, विद्यार्थियों के समक्ष उदाहरण के रूप में उपस्थित करके उसका अनुकरण करने का उपदेशमात्र करता है।

जिन आदर्शों-नियमों, सिद्धान्तों, विधि-विधानों, अनुशासनों को अध्यापक विद्यार्थियों को पढ़ाना चाहता है, इसके लिए आवश्यक है कि वह स्वयं उनको अपने जीवन में क्रियान्वित करके ही पढ़ाये। अध्यापक विद्यार्थियों के अन्तःकरण को ज्ञानरूपी अग्नि से प्रज्वलित करता है तो उसे स्वयं ही दियासलाई के समान अपने व्यक्तिगत जीवन को जलाकर प्रकाशित करना होगा। जैसे स्वयं जले बिना दियासलाई दूसरों को जलाने मे समर्थ नहीं हो सकती है।

अध्यापकों में एक विशेषता यह भी होनी चाहिए कि विद्या प्रदान के बदले में धन, सम्पत्ति, साधनों की कामना मन में न हो। यदि अध्यापक के मन में प्रतिफल की कामना रहती है तो वह पवित्र कार्य न होकर व्यवसाय बन जाता है और व्यवसाय में निष्कामता नहीं रहती है और बिना निष्कामता के अध्यापक का चरित्रनिर्माण रूपी कार्य सम्भव नहीं है। यदि अध्यापक व्यवसायी बन जाता है तो धन, साधन, सामर्थ्य, अधिकार वालों को शिक्षा मिलेगी। धन, साधन आदि के बिना किसी को विद्या नहीं मिल पायेगी। अतः वैदिक संस्कृति में विद्या/शिक्षा निःशुल्क प्रदान करने

का विधान है। सभी के लिए समानरूप से विद्या प्राप्ति तभी सम्भव है जब कोई शुल्क न हो, पक्षपात न हो तथा निष्कामता हो।

अध्यापक का एक गुण और वेद मन्त्र में बताया गया है वह है **वसोः पते** - अर्थात् आचार्य अनेक प्रकार के विषयों का ज्ञाता होना चाहिए। उसे न केवल भाषा का ज्ञान हो अपितु उसे जीव, वनस्पति, रसायन, सृष्टि, अन्तरिक्ष, विद्युत, वायु, समुद्र, खनिज, आकाश, विमान, प्राण, शरीर, स्वास्थ्य, चिकित्सा, नगर, ग्राम, राष्ट्र, युद्ध, आचार, भक्ष्य-अभक्ष्य, चरित्र, आत्मा, परमात्मा, ध्यान, मुक्ति आदि सम्पूर्ण विषयों का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिए। जिससे विद्यार्थियों का सर्वांगीण विकास करा सके, न कि किसी एक ही विषय में उसे प्रवीण बनाये।

मन्त्र में एक विशेष बात यह बतायी गयी है कि विद्यार्थियों का पढ़ा हुआ और अध्यापकों का पढ़ाया हुआ ज्ञान-विज्ञान उनकी बुद्धि में अच्छी प्रकार से अंकित हो जाये। उसे वह हमेशा स्मरण रखें, भूलें नहीं। यह तभी सम्भव है जब उस सुने-पढ़े ज्ञान की बार-बार आवृत्ति करें। अध्यापक बार-बार उसे पढ़ाये स्मरण कराये। क्योंकि मात्र सुना-पढ़ा ज्ञान पुस्तकों में ही या संचिका में ही लिखा रहे और अवसर आने पर बुद्धि में स्मरण न आए तो उस ज्ञान को व्यवहार में नहीं लाया जा सकता है।

मन्त्र में अन्त में बताया गया है कि निष्काम भावना से जीवन में ज्ञान को उतार कर अध्यापन करने वाले अध्यापकों द्वारा बार-बार पढ़ायी विद्या को पढ़कर ही विद्यार्थी विद्वान् बनते हैं और उस ज्ञान को व्यवहार में लाकर अपने व्यक्तिगत जीवन को धर्म, सम्पत्ति, वैभव, ऐश्वर्य, सुख से सम्पन्न करके अपने आदर्श व्यवहार से अपने परिवार, समाज, राष्ट्र, विश्व को भी सुखी बनाते हैं। ईश्वर की कृपा हो कि राष्ट्र में पुनः प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना हो और हम चरित्रवान्, बलवान्, धनवान्, साहसी तथा पराक्रमी बनें और देश से आसुरी भाव समाप्त हो।

★★★

(२३)

महे च न त्वामद्रिवः परा शुल्काय दीयसे।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ।।

सामवेद ३/०६/६

शब्दार्थः – **अद्रिवः** – सम्पूर्ण भोग्य पदार्थों को देने वाले भगवन् !, **त्वाम्** – तुझे मैं, **महे** – बहुत अधिक, **शुल्काय** – धन मिलने पर, **च न** – भी, **न** – नहीं, **परा दीयसे** – छोड़ूँ, बेचूँ, **वज्रिवः** – हे शक्तिसम्पन्न !, **शतामघ** – अनन्त ऐश्वर्य वाले परमेश्वर !, **न** – नहीं, **शताय** – सौ के लिए, **न** – नहीं, **सहस्राय** – हजार के बदले में, **न अयुताय** – न लाख, करोड़ के बदले में भी तुझे त्यागूँ।

भावार्थ – इस वेद मन्त्र में मनुष्यों को निर्देश किया गया है कि वे चाहे हजारों मिलते हो या लाखों अथवा करोड़ों या फिर अरबों रुपये की धन-सम्पत्ति मिलती हो तो भी परमात्मा के नियमों, विधि-विधानों, अनुशासनों, आदर्शों, मर्यादाओं की अवहेलना न करें, उनका त्याग न करें। संसार में इन्द्रियों के माध्यम से भोगे जाने वाले विषय भोगों का जो क्षणिक सुख है वह परमेश्वर की अनुभूति के आगे कुछ भी नहीं है।

संसार में जितने भी ऐश्वर्य हमें भोगने को मिले हैं वे सभी ईश्वर ने ही बनाये हैं। उनको भोगने के नियम, विधि-विधान भी ईश्वर ने बनाये हैं। योग्य अधिकारी बनकर, मर्यादाओं में रहते हुए संसार के भोगों को भोगें। इसके विपरीत ईश्वर के अनुशासनों, नियमों को तोड़कर, अनुचित, अन्याय पूर्वक जो भोगों को भोगता है वह ईश्वर के दण्ड का भागी बनता है।

अविवेकी मनुष्य जिनकी बुद्धि दूरदर्शी नहीं है, वे तात्कालिक, क्षणिक-तुच्छ लाभ को प्राप्त करने के लिए यह नहीं विचारते कि

इसके दूरगामी परिणाम क्या निकलेंगे। वे बस यही विचारते हैं कि आज सुख भोग लो, अभी सुख भोग लो, कल किसने देखा है। वह सार्वजनिक व्यवस्था के लिए बनाये गये सामाजिक और राष्ट्रीय नियमों को ताक में रखकर, अन्यों को धन, बल, अधिकार, भय, प्रलोभन प्रदान करके अनुचित, अयोग्य भोग साधनों को प्राप्त करता है। सत्य, धर्म, न्याय का उल्लंघन करके अनधिकृत अनुचित भोगों को भोगता है। वह भूल जाता है कि समस्त संसार का बनाने वाला, उसे भोग्य साधन प्रदान करने वाला भोला-भाला नहीं है कि जिस किसी के जब मन में आवे उसकी न्याय व्यवस्था को भंग करके मनमाने ढंग से भोग ले और वह कुछ भी न करे।

ईश्वर को मन्त्र में 'वज्रिवः' कहा गया है। इसका अर्थ है – अनन्त शक्ति सम्पन्न। अनीति-कुनीति से अपनी भोगेच्छाओं को पूरा करने वाला कोई भी व्यक्ति जो उसके नियमों का भंग करता है, ईश्वर उसको अपने नियमों के अनुसार दुःखरूपी फल प्रदान करता ही है। छोटा सा पेट जो मात्र ४-५ इन्च का है, इसको भरने के लिए तथा छोटा सा शरीर जो मात्र ५-६ फिट का है, उसे ढकने के लिए और ६-८ घण्टे की नींद, जिसके लिए २ x ६ फिट स्थान की अपेक्षा है, उसके लिए झूठ, छल, कपट, मिलावट, अन्याय, चोरी आदि अनुचित साधनों का प्रयोग करता है जिसे अधर्म, पाप कहते हैं अथवा किसी को घूस, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से रिश्वत देकर, अनुचितरूप से अन्यायपूर्वक, छिपकर सुविधा, साधन, अधिकार प्रदान करके नियम विरुद्ध कार्य करता है। ऐसे कार्य को ही ईश्वर को छोड़ना, त्यागना कहा गया है तथा कठोर शब्द में ईश्वर को बेचना कहा जाता है।

मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, उपाश्रय, मठ आदि धार्मिक पूजा स्थलों में जाने वाले घर, दुकान, विद्यालय, कार्यालय, कारखाने, न्यायालय, सभा, खेत, युद्ध, व्यावसायिक केन्द्र आदि में जो भी अनिष्ट, अप्रामाणिक कार्य करते हैं वे सब ईश्वर को भूले होते हैं, नास्तिक बने होते हैं।

तात्कालिक सुख सुविधाओं को अनुचित रूप में प्राप्त करने वाले भूल जाते हैं कि यह भोग मात्र २०-३०-४० वर्ष या इसी जीवन तक का है, मरने के बाद न मकान होगा, न कपड़े, न भोजन। जंगल में रहने वाले पशु-पक्षियों को देख सकते हैं। गलियों में रहने वाले कुत्तों को देख सकते हैं। इन पर कोई दया करके रोटी का टुकड़ा फैंक देता है तो पेट की आग बुझती है, अन्यथा बेचारे भूखे ही रहते हैं। न उनके पास कपड़े हैं न मकान। सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूख, प्यास आदि से सदा ही आतंकित रहते हैं। एक मिनट के लिए भी चैन नहीं मिलता है।

हे प्रभो ! हमारी बुद्धिरूपी आँखें खोलो, हमारे अन्दर यह विवेक उत्पन्न करो कि हजार, लाख, करोड़ की बात दूर रही, किसी भी कीमत पर आपकी आज्ञाओं का हम उल्लंघन नहीं करेंगे। यहाँ तक कि मृत्यु भी क्यों न आ जाये तब भी आपको नहीं छोड़ेंगे। आपके साथ विश्वासघात नहीं करेंगे। यही आपसे प्रार्थना है। जिसे आप अपनी कृपा से पूरी करो।

★★★

(२४)

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति।।

अथर्ववेद १२/३/४८

शब्दार्थः – **न** – नहीं होती है, **किल्बिषम्** – कोई कमी, **अत्र** – इस कर्म फल में, **न** – न कोई, **आधारः** – सिफारिश, **अस्ति** – चलती है, **न** – नहीं, **यत्** – जो, **मित्रैः** – मित्रों के साथ, **सम् अममानः** – चलता हुआ, **एति** – जाता है, **अनूनम्** – पूरा का पूरा, **पात्रम्** – कर्मों का पात्र, **निहितम्** – सुरक्षित रखा हुआ, **नः** – हमारा, **एतत्** – यह पात्र, **पक्तारं** – पकाने वाले को, **पक्वः** – पकाया हुआ कर्म, **पुनः** – फिर, **आविशाति** – मिल जाता है।

भावार्थ – अच्छे-बुरे कर्मफल के विषय में वेद तीन बातें स्पष्ट कहता है कि न तो किसी भी क्रियाकाण्ड से इसमें कोई कमी होती है, न किसी की सिफारिश चलती है और न कोई मित्र-साथी या सम्बन्धी कर्म फल का हिस्सा ले सकता है। वैदिक सिद्धान्त यही है कि जो जैसा तथा जितना कर्म करता है वह वैसा तथा उतना ही फल प्राप्त करता है।

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि मनुष्य क्षणिक सुख के लिए लोभवशात्, शीघ्रता में, बिना परिणामों, प्रभावों का विचार किए विवशता के कारण, किसी के दबाव में आकर, न चाहते हुए भी तात्कालिक दण्ड, उपहास, हानि को टालने की दृष्टि से झूठ, छल, कपट, हिंसा, चोरी आदि बुरे कर्मों को कर लेता है। ऐसे कर्मों को कर लेने के पश्चात् ईश्वर की ओर से मन में भय, शंका, लज्जा, अशान्ति, चिन्ता आदि की अनुभूति होने लगती है। व्यक्ति को स्पष्ट ही ऐसा आभास होता है कि मेरे इस अनिष्ट

कर्म का दण्ड ईश्वर की ओर से मिलेगा। ऐसी स्थिति में उस दुःखदायी कर्म के फल से बचने के लिए वह उपायों को ढूँढता है जैसे कोई दान देता है या यज्ञ करता है, कोई माला फेरता है या जप करता है, कोई कहीं स्नान करता है, पूजा करवाता है, कोई तीर्थ यात्रा करता है, उपवास रखता है इत्यादि। यहाँ तक कि आजकल के तथाकथित पण्डे, पुजारी, गुरु, पुरोहित, बापू, स्वामी, महाराज आदि धर्माधिकारी व्यक्ति भी उन्हें किये गए पापों से बचने के लिए ईश्वर को भोग लगाना, पूजा आराधना करना, बलि चढ़ाना, क्षमा-याचना करना, यज्ञ, दान, तीर्थ, पुण्य आदि उपाय बताते हैं।

वैदिक शास्त्रकारों ने कर्म के तीन साधन बताये हैं। प्रथम शरीर, दूसरा वाणी, तीसरा मन। इन तीनों साधनों से दस प्रकार के अच्छे कर्म करता है और दस प्रकार के ही बुरे कर्म करता है। शरीर से तीन शुभ कर्म होते हैं - रक्षा, दान और सेवा तथा वाणी से चार शुभ कर्म होते हैं - सत्य बोलना, मधुर बोलना, हितकर बोलना और स्वाध्याय करना। इसी प्रकार मन से तीन अच्छे कर्म होते हैं - दया करना, लोभ न करना और आस्तिकता (=ईश्वर) विश्वास। शरीर से जो तीन बुरे कर्म होते हैं वे हैं - हिंसा, चोरी तथा व्यभिचार ऐसे ही वाणी से चार बुरे कर्म होते हैं वे हैं - झूठ बोलना, कठोर बोलना, अहितकर बोलना तथा व्यर्थ बोलना, इसी प्रकार मन से तीन प्रकार के बुरे कर्म होते हैं वे हैं - द्रोह, लोभ और नास्तिकता अर्थात् ईश्वर आत्मा, धर्म, अधर्म, कर्म फल, पुनर्जन्म आदि को नहीं मानना।

प्रत्येक साधन से किये गये अच्छे-बुरे कर्म का फल अवश्य ही मिलता है, यह वैदिक मान्यता है। आज अज्ञान के कारण, अन्धपरम्परा से प्रायः आस्तिक, धार्मिक कहलाने वाले किसी भी मत, पंथ, सम्प्रदाय, देश, जाति, भाषा से सम्बन्धित व्यक्ति भी क्यों न हो, यह मान्यता उनके मन-मस्तिष्क में अच्छी प्रकार बैठ गयी है कि पाप करके हम येन केन प्रकारेण बच जायेंगे और इस

गलत मान्यता की पुष्टि या संवर्धन वर्तमान के मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च आदि अधिकांश धार्मिक संस्थानों या इनके धर्म नेताओं द्वारा भी किये जा रहे हैं। कुछ संस्थानों या धर्मगुरुओं को छोड़ दें किन्तु अधिकांश व्यक्ति यह कहते हैं, मानते हैं कि यदि आप ऐसा कर्मकाण्ड, यज्ञ, जप, तप, दान, पूजा, सेवा, तीर्थ आदि करेंगे तो आपके पाप कर्म नष्ट हो जायेंगे। यदि देखा जाये तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ये अधिकांश (सभी नहीं) धर्माचार्य, धर्म संस्थान पाप, अधर्म, अनैतिकता, दुराचार बढ़ाने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका बनाते हुए कारण बने हुए हैं। यदि ये धर्माचार्य यह स्पष्ट घोषणा कर देवें कि चाहे कितनी ही पूजा, पाठ, जप, तप, सेवा, तीर्थ यात्रा करो, दान देओ, बुरे कर्मों का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। चाहे कहीं स्नान करो या किसी के दर्शन करो या तोबा करो, SORRY कहो। इस प्रकार से धर्माचार्यों की स्पष्ट घोषणा से निश्चित् ही पाप वृत्तियाँ रुक सकेंगी, अति न्यून हो जाएँगी, अन्यथा नहीं।

परमपिता परमात्मा के बताये वेद के इस सिद्धान्त को कि कर्मफल में न कमी होती है, न कर्म फल दूसरे को बांट सकते हैं, न इससे बच सकते हैं, प्रत्येक व्यक्ति आत्मसात कर ले और सार्वजनिक रूप से विशेषकर धार्मिक संस्थानों में धर्माचार्यों द्वारा इसको खुलकर, स्पष्ट, जोर-शोर से प्रसारित किया जाये तो पाप की वृत्तियाँ कम हो सकती हैं।

ईश्वर की महती कृपा हो कि हम कर्मफल के सच्चे सिद्धान्त को समझें और बुरे कर्मों से बचें तथा अन्यों को भी बचाने में सहयोग करें।

★★★

(२५)

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मासं ना तदेव नाश्नीयात्।।

अथर्ववेद ९/६/९

शब्दार्थः – **एतद् वा उ** – वही खाद्य पदार्थ, **स्वादीयः** – रुचिकर, स्वादिष्ट, लाभकारी होता है, **यत्** – जो, **अधिगवम्** – भूमि से फल, फूल, अन्न, शाक, कन्द, मूल आदि प्राप्त होता है, **वा** – अथवा, **क्षीरं** – जो गाय आदि पशुओं से दूध, दही, घी आदि के रूप में मिलता है, **मांसम्** – जो पशु-पक्षी, मछली आदि को मारकर मांस प्राप्त होता है, **वा** – अथवा जो पशु-पक्षी आदि के गर्भ, अण्डे होते हैं, **एव** – वह भी वैसा ही अभक्ष्य है, **तद्** – वह, **न** – नहीं, **अश्नीयात्** – खाना चाहिए।

भावार्थ – मनुष्यों को जीवित रहने के लिए क्या खाना चाहिए और क्या नहीं, इस विषय में वेदों में सैकड़ों मन्त्र आये हैं। उनमें सैकड़ों प्रकार के अन्न, शाक, कन्द, मूल, फल, वनस्पति, औषधि, लता, गुल्म आदि का नाम गिना-गिनाकर खाने का विधान किया है। तदुपरांत वेद की व्याख्या रूप में जो उपवेद हैं जिनमें आयुर्वेद भी है उसमें बड़े विस्तार से एक-एक पदार्थ के गुणधर्म-स्वभाव को बताकर उनकी उपयोग विधि का भी सरल और स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। ऋतु, देश, काल, परिस्थिति, बल, अवस्था आदि सभी बातों को ध्यान में रखते हुए भक्ष्य-अभक्ष्य का विधान किया है।

आज विश्व में भोजन के विषय में दो पक्ष मुख्य हैं – प्रथम यह कि जलचर, नभचर, थलचर किसी भी प्राणी को चाहे वह पशु हो, पक्षी हो, कीट हो, पतंग हो, मछली हो या अन्य कोई उसे पकड़कर, मारकर, साफ-सफाई करके पकाकर खाया जा सकता

है। इसमें कोई हिंसा नहीं है क्योंकि इनमें आत्मा नहीं है और ये सब प्राणी मनुष्यों के खाने के लिए ही बनाये गये हैं।

दूसरा पक्ष यह है कि उपर्युक्त मनुष्य सदृश शरीर हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान, पेट आदि अवयव वाले तथा सुख-दुःख की अनुभूति करने वाले उसी की तरह श्वास-प्रश्वास लेने वाले, बच्चे पैदा करने वाले, उनका लालन-पालन करने वाले, सोने-जागने वाले, मरने-जीने वाले, भय-प्रेम करने वाले पशु-पक्षियों में मनुष्यों की तरह ही आत्मा है। इनको मारने से हिंसा होती है क्योंकि ये प्रत्यक्ष ही मारते समय भयभीत हो जाते हैं, चिल्लाते हैं, दौड़ते हैं, दुःखी होते हैं। इन्हें मारकर खाना हिंसा है, अधर्म है, पाप है।

वैदिक सिद्धान्त मांस भक्षण के निषेध का है। प्रस्तुत मन्त्र में स्पष्ट निर्देश है कि जो भूमि माता की गोद में विभिन्न प्रकार के गेहूँ, चावल, चना आदि अन्न उत्पन्न होते हैं, आम, अंगुर, केला, सन्तरा आदि फल, पेड़ों, लताओं, गुल्मों में लगते हैं या अन्य प्रकार के लौकिक तोरी, भिण्डी आदि सब्जियाँ उत्पन्न होती हैं या आलू, मूली, अदरक आदि कन्द उत्पन्न होते हैं। उनको खाना चाहिए अथवा गाय, भेड़, बकरी आदि पशुओं के दूध और दूध से बने दही, मक्खन, मलाई, घी, मावा, पनीर आदि खाना चाहिए। पशु-पक्षी आदि आत्मा वाले जीवित प्राणियों को मारकर नहीं खाना चाहिए।

मनुष्यों को कतलखानें में जाकर प्रत्यक्ष रूप में पशु-पक्षियों को मारते हुए, काटते हुए दिखाया जाये तो निश्चित है कि अधिकांश व्यक्ति मांस भक्षण छोड़ देंगे। ऐसा इंग्लैण्ड देश में हुआ था। बच्चों ने टी.वी. पर Slaughter House में पशुओं को कटता देखकर मांस खाना बंद कर दिया। वैदिक धर्म में किसी भी पशु-पक्षी को मारना इतना ही घातक है जितना मनुष्य को या उसके बच्चे को मारना। बल्कि वेद में तो गाय आदि अत्यन्त परोपकारी पशुओं को मारने वालों को मृत्यु दण्ड देने का विधान है।

आज के प्रसिद्ध पाश्चात्य वैज्ञानिक, डॉक्टर, बुद्धिजीवियों ने मांसाहार के कारण होने वाले अनेक प्रकार के रोगों के नाम बताये हैं। अमेरिका, युरोप आदि सभ्य कहलाने वाले देशों में अब शाकाहार बढ़ता जा रहा है। मनुष्य मांसाहारी प्राणी नहीं है। यदि कोई व्यक्ति शब्द प्रमाण को न भी स्वीकार करें तो तर्क युक्ति से हम स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य एक मांसाहारी प्राणी हो ही नहीं सकता है।

पहला - धरती पर जितने भी मांसाहारी प्राणी हैं वे जीभ से लप-लपाकर पानी पीते हैं। मनुष्य घूंट-घूंट कर पानी पीता है। **दूसरा** - मांसाहारी प्राणी रात के अन्धेरे में देखते हैं, चलते हैं, परन्तु मनुष्य को रात को दिखाई नहीं देता है। **तीसरा** - मांसाहारी प्राणियों के शरीर में से पसीना नहीं आता है। जैसे कि मनुष्यों के शरीर में से पसीना निकलता है। **चौथा** - मांसाहारी प्राणी मैथुन करते समय आपस में जुड़ जाते हैं परन्तु शाकाहारी प्राणी नहीं जुड़ते हैं। **पाँचवा** - जितने भी मांसाहारी प्राणी हैं उनके बच्चे पैदा होते हैं तो आँखे कई दिनों तक बन्द रहती हैं परन्तु मनुष्य के बच्चों की थोड़े से ही काल में आँखें खुल जाती हैं। **छठा** - मांसाहारी प्राणियों के दांत नुकीले और चुभने वाले होते हैं जबकि मनुष्य के सीधे-सपाट होते हैं। **सातवाँ** - मांसाहारी प्राणियों के शरीर की आंते शरीर के परिमाण से बड़ी होती हैं, शाकाहारियों की नहीं होती है। **आठवाँ** - मांसाहारी प्राणियों का मेदा बड़ा होता है, शाकाहारियों का नहीं। **नौवाँ** - मांसाहारी प्राणियों की आकृति, बनावट भयानक और डरावनी लगती है, जबकि शाकाहारियों की नहीं।

ईश्वर करे हम सत्य को खोज कर पशुओं को मारकर खाने की हिंसक परम्परा को समाप्त करने में अग्रसर हों और पृथ्वी को हिंसा के महाताण्डव से बचाकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करें।

★★★

(२६)

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊर्धन नग्ना जरन्ते।। ऋग्वेद ८/२/१२

शब्दार्थः - **हृत्सु** - दिल खोलकर, **पीतासो** - शराब पीये हुए शराबी, **युध्यन्ते** - लड़ते-झगड़ते हैं, **दुर्मदासः न** - पागल बने हुए के समान, **सुरायाम्** - शराब के नशे में धुत्त होकर, **ऊर्धः न** - जैसे बहुत अधिक आनन्द से विभोर व्यक्ति बोलता है वैसे शराबी, **नग्ना** - नंगे होकर, **जरन्ते** - बड़-बड़ाते हैं।

भावार्थ - एक बहुत बड़ा आश्चर्य देखने में आता है कि इस धरती पर जितने भी देश हैं और उन देशों में जितने भी मत-पंथ, सम्प्रदाय हैं, जितनी भी जातियाँ जिस किसी भी सिद्धान्त को मानने वाली हैं उनमें से अधिकांश एक स्वर में मद्यपान को बुरा मानती हैं। ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू, यहूदी, पारसी, बौद्ध, जैन आदि के सभी बाईबल, कुरान, वेद आदि ग्रन्थों में शराब को अधर्म, पाप, बुरा कहा गया है। फिर भी इन सभी मत-पंथों को मानने वाले निशंक, निर्भीक होकर खुले आम, सार्वजनिक स्थानों पर, घरों में, पार्टियों में, यहाँ तक कि धर्म स्थलों में भी शराब पीते हैं।

पाश्चात्य देशों के प्रत्येक नगर, गाँव में पदे-पदे पब (मयखाने) अर्थात् शराब की दुकानें बनी हुई हैं। वहाँ २४ घण्टे जब भी कोई चाहे शराब पी सकता है, जैसे हमारे देश में चाय का प्रचलन है। विदेशी पाश्चात्य देशों की स्थिति को छोड़िये, हम आज अपने देश की बात करते हैं। यहाँ पर भी हजारों कारखानें, भट्ठियाँ दिन-रात लाखों लिटर शराब बनाती हैं। सरकार उनसे कर वसूल करती है उनको निर्माण करने का अधिकार पत्र दे रखा है। विचित्र बात तो यह है कि सरकार एक तरफ शराब को हानिकारक बता कर पत्र, पत्रिकाओं, पोस्टरों, टी.वी. आदि के माध्यम से बड़े-बड़े विज्ञापन

निकालती है कि शराब न पीयें, दूसरी तरफ प्रति वर्ष हजारों की संख्या में शराब के ठेके-दुकानें खुलवाती है और इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि प्रतिदिन लाखों व्यक्ति जिस शराब को पीते हैं उन पर लिखा होता है कि यह स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

वेद मन्त्र में स्पष्ट लिखा है कि मद्यपान करने से सर्व प्रथम मनुष्य की बुद्धि नष्ट होती है। क्योंकि यह शराब तमोगुणी है। अन्न, फल, रस, शाक आदि को गला-सड़ा कर इसे बनाया जाता है। तमोगुण युक्त शराब का सेवन करने से मनुष्य भी तमोगुणी बन जाता है। शराबी व्यक्ति हानि-लाभ, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, न्याय-अन्याय का विवेक खो देता है। नशे में चूर होकर शराब पीने वाला अपशब्द बोलता है, मार-पिटाई करता है, धन न मिलने पर चोरी करता है, डाका डालता है, हत्याएँ करता है, शिष्टता, भद्रता, शालीनता, सभ्यता को छोड़कर उद्दण्डी, असभ्य, क्रूर, हिंसक बन जाता है। ऐसी घटनाएँ समाजों, गाँवों, नगरों, देश में सर्वत्र देखी जा सकती हैं। लाखों परिवार आज शराब पीनेवालों के कारण दुःखी हैं, अनेक परिवार बर्बाद हो गये हैं। प्रति वर्ष शराब के कारण देश में लाखों व्यक्ति जवानी में, छोटी उम्र में ही टी.बी., कैन्सर, लीवर की खराबी आदि रोगों से ग्रस्त होकर जीवनलीला समाप्त कर देते हैं।

वैदिक राज्य व्यवस्था के काल में तो पूरे साम्राज्य में एक भी शराबी नहीं होता था, ऐसा आश्वासन राजा देता था। ईसाई मत में भी मद्य का निषेध है, ''यदि तुम परमपिता परमेश्वर के स्थान अर्थात् गिरजाघर जाने वाले हो तो कभी मद्यपान नहीं करना, न अपनी सन्तान को ऐसा करने देना।''

इस्लाम मत में भी स्पष्ट निर्देश है कि, ''शराब पर, पीने और पिलाने वाले पर, बेचने और खरीदने वाले पर, किसी भी प्रकार से सहयोग देने वाले पर अल्लाह ने लानत फरमाई है।''

जैन मत में कहा गया है कि, ''शराब के अधीन होकर मनुष्य तरह-तरह के निन्दनीय कर्म करता है। उसे इस लोक में भी अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं और परलोक में भी। ''

बौद्ध धर्म के संदेश में कहा गया है कि, ''मनुष्यो ! तुम किसी अन्य से भयभीत न होना किन्तु शराब से सदा भयभीत रहना क्योंकि वह पाप और अनाचार की जननी है।''

सिख मत में कहा गया है कि, ''शराब का सेवन करने वाले जो तीर्थ, व्रत, नियम आदि अच्छे-अच्छे धर्म कार्य करते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं।''

महात्मा गांधी जी ने कहा था कि, ''मैं मद्यपान को चोरी, वेश्यावृत्ति से भी अधिक निन्दनीय मानता हूँ, क्योंकि वह इन दोनों की जननी है। देशवासियों को चाहिए कि मिलकर शराब की दुकानों को नष्ट करा देवें।

आज विश्व के मानव समाज में जो सब प्रकार का आध्यात्मिक, शारीरिक, नैतिक पतन हुआ है इसका एक बड़ा कारण मद्यपान का अधिकाधिक प्रसार होना है। इसी भयंकर महान् दोष के कारण मनुष्यों के जीवन में उत्तम-उत्तम गुणों का ह्रास हो गया है और अनेक प्रकार की बुराइयाँ घर कर गयी हैं।

परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह शराबी व्यक्तियों के मन में इस प्रकार की प्रेरणा करे कि वे इस सर्व सुखों का नाश करने वाले कुव्यसन से छूट जायें और अपने जीवन को पवित्र बनाकर स्वयं सुखी बनें तथा अन्यों को भी सुखी बनावें।

★★★

(२७)

अक्षैर्मा दीव्य कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्रजाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः।।

ऋग्वेद १०/३४/१३

शब्दार्थः – **अक्षैः मा दिव्यः** – जुआ मत खेल, **कृषिम् इत् कृषस्व** – खेती आदि परिश्रम के कार्य करके, **वित्ते रमस्व** – धन कमाकर सुख को भोग और, **बहुमन्यमानः** – उसी कमाई को बहुत मानता हुआ सन्तोषी बन, **कितव** – हे जुआरी, **तत्र** – उसी परिश्रम की शुद्ध कमाई से गाय आदि सुख के साधन मिलते हैं तथा, **तत्र जाया** – उसी से पत्नी बच्चों का पालन उत्तम होता है, **तन्मे विचष्टे** – यह बात मुझे व हम सबको बताता है जो, **सविता** – सबका प्रेरक है, **अयम्** – और यह, **अर्यः** – सबका स्वामी है।

भावार्थ – वैदिक धर्म में बिना परिश्रम-पुरुषार्थ किये, बिना भाग-दौड़ किये, बिना पसीना बहाये, बिना त्याग-तपस्या किये, बिना अभाव-कष्टों को उठाये धनोपार्जन करना बुरा बताया गया है। क्योंकि बिना ही पुरुषार्थ के जो धन मिलता है वह व्यक्ति को आलसी प्रमादी, विषय भोगी बना देता है। समाज में आज स्पष्ट ही देखने को मिल जाता है कि जिन नवयुवकों को अनायास ही बैठे बिठाये माँ-बाप की या दादा-दादी की सम्पत्ति मिल जाती है उनका जीवन भोगी, विलासी, अपव्ययी हो जाता है। आगे चलकर वे उद्दण्डी, चरित्रहीन, स्वच्छन्दी, अनुशासनहीन, नास्तिक होकर समाज व राष्ट्रघाती जघन्य अपराधों के करने वाले बन जाते हैं।

अविद्वान्- अविवेकी मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि वह बिना हाथ-पाँव हिलाये, या कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक धन साधनों को प्राप्त करना चाहता है। एक के दो, दो के

चार, चार के आठ नहीं वह तो एक के लाख करोड़ बनाकर रातों-रात करोड़पति बनना चाहता है। इसी बिना कर्म किये अपार धनरूपी फल चाहने वालों की मनोवृत्ति का लाभ उठाकर लोगों ने लाटरी की प्रथा प्रारंभ की। १ या ५ या १० रुपये की टिकट खरीदें और करोड़पति बनें।

लाटरी टिकट, पासे (चौपड़), घुड़ दौड़, ताश के पत्ते, सट्टे बाजी, गंडा, ताबीज, डोरा, धागा, रुद्राक्ष, रत्न आदि अनेक प्रकार के जुए के भिन्न-भिन्न तरीकों व साधनों द्वारा आज व्यक्ति अपने भाग्य को आज़माता है। लाखों-करोड़ों व्यक्ति को धन की हानि होती है और गिनती के व्यक्ति लखपति, करोड़पति बनते हैं। अर्थात् करोड़ों को रुलाकर, दुःखी करके स्वयं सुखी बनना यह बड़ी हिंसा है, अन्याय है। यह हिंसा, अन्याय आज नगर-नगर, गाँव-गाँव, गली-गली, घर-घर में व्यापक होता जा रहा है। शोक इस बात का होता है कि इस प्रकार के जुए, वंचन, धोखा, अन्याय को सरकार ने भी मान्यता दे रखी है। लाखों जुआरियों के घर-बार, धन-सम्पत्ति, धन्धा-व्यापार नष्ट हो जाते हैं, घर में पत्नी, बच्चे, माता-पिता की दुर्दशा हो जाती है। स्वयं जुआरी को समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता है।

इसके विपरीत कृषि, व्यापार, कल-कारखाने से उत्पादन, विभिन्न प्रकार के उद्योग, निर्माण, शिल्प कला आदि के माध्यम से पुरुषार्थ से कमाया धन सुख-शान्ति, प्रतिष्ठा, निर्भीकता को प्रदान करता है। शुद्ध कमाई से गाय-भैंस आदि पशु, भवन, कार, स्कूटर, फ्रिज, कम्प्युटर, ए.सी. आदि आवश्यक भोग्य साधनों को ही प्राप्त करता है, अनावश्यक साधनों को नहीं।

धन की लिप्सा-लोभ वृत्ति के बढ़ने पर व्यक्ति धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल जाता है। समस्त सामाजिक नियमों, राष्ट्रीय नियमों, विधि-विधानों, अनुशासनों को तथा मानवीय मर्यादाओं को तिलांजलि देकर किसी भी तरीके से धन संग्रह करने लग जाता है। इस प्रवृत्ति के कारण

वह न केवल झूठ, छल, कपट, चोरी, मिलावट, हेराफेरी, को ही अपनाता है बल्कि इनसे भी बढ़कर हत्याओं, डाके, नकली नोट, बम्ब ब्लास्ट, आगजनी, हिंसा, लूट-पाट आदि भयंकर आतंक व उग्रवादी प्रवृत्तियों से भी संयुक्त हो जाता है। कुछ ही गिनती के मनुष्य लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को अशान्त, भयभीत, संशयित, चिन्तित, दुःखी बना देते हैं। जैसे कि आज सम्पूर्ण विश्व के देशों में स्पष्ट दृष्टि गोचर हो रहा है "कम काम अधिक दाम" की दुष्ट प्रवृत्ति वाले लोभी व्यक्तियों को लुभाने के लिए, आकर्षित करने के लिए लोगों ने नये-नये तरीके निकाले हैं, जैसे दो वस्तु खरीदो और एक वस्तु निःशुल्क प्राप्त करो। सौ ग्राम सामान का पैसा दो पचास ग्राम अधिक प्राप्त करो इत्यादि।

जबकि सत्य यह है कि ऐसी भूल अर्थात् घर से घाटा खाकर कोई भी कम्पनी या दुकानदार धंधा नहीं करता।

वेद कहता है कि श्रम करके इमानदारी से प्राप्त सम्पत्ति से ही व्यक्ति को सच्ची शान्ति, प्रसन्नता मिलती है, पूर्ण सन्तोष होता है और निर्भीकता आती है। सच्ची कमाई वालों का समाज में भी सम्मान होता है तथा परिवार में पत्नी-बच्चे भी सुखी रहते हैं। ईश्वर ने हमें जो सन्देश दिया है, प्रेरणा दी है उसका परिपालन करके हम भाग्यवाद के भरोसे न छोड़कर पुरुषार्थ, तपस्या के माध्यम से जीवन को सफल बनावें।

★★★

(२८)

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा
अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना
वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।। अथर्ववेद १२/१/६२

शब्दार्थः - **पृथिवि** - हे धरती माँ ! **ते** - तेरी, **उपस्था** - गोद में, **प्रसूता** - हम उत्पन्न हुए पुत्र हैं, **अस्मभ्यम्** - हमारे लिए, **अनमीवा** - स्वास्थ्यप्रद, **अयक्ष्मा** - रोग रहित, **सन्तु** - होओ, **नः** - हमारी, **आयुः** - उम्र, **दीर्घम्** - लम्बी हो, **प्रतिबुध्यमानाः** - सतर्क-सावधान होते हुए, **वयम्** - हम, **तुभ्यम्** - तेरे लिए, **बलिहृतः** - अपनी बलि देने वाले, **स्याम** - बनें।

भावार्थ - प्रस्तुत मन्त्र में बताया गया है कि यह पृथ्वी हमारी माँ के समान पालन करने वाली है, रक्षा करने वाली है, यह हमारे जीवन का आश्रय है। धरती की गोद में हम खेलते हैं, कूदते हैं, चलते हैं, फिरते हैं, सारी क्रियायें करते हैं। धरती माता के ही खेत, खलिहानों, पहाड़ों पर उत्पन्न फल, फूल, अन्न, शाक, कन्द, मूल, वनस्पति, औषधि आदि खाकर तथा इसी में ही उत्पन्न सोना, चांदी, लोहा, ताम्बा, एल्युमिनियम, हीरा, मोती आदि बहुमूल्य धातुओं को निकाल कर जीवनोपयोगी आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करके प्रयोग में लेते हैं। भवन, वस्त्र, वाहन, विद्युत, यंत्र, बांध, पुल, सड़क, पशु-पक्षी आदि जितने भी हमारे जीवन की पालना करते हैं, वे सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पृथ्वी के पेट में से ही हमें प्राप्त होते हैं।

प्रत्येक मनुष्य का यह परम कर्त्तव्य है कि जिस देश में हम उत्पन्न हुए, जिसमें उत्पन्न पदार्थों का प्रयोग करके हमारा शरीर फल-फूल रहा है और हम अनेक प्रकार के भोगों को भोग कर आनन्द

उठाते हैं उस देश की उन्नति, रक्षा, पालन, वृद्धि तन, मन, धन से सभी व्यक्ति मिलकर अत्यन्त श्रद्धा, प्रेम, निष्ठा, त्याग, तपस्या के साथ करें। चाहे वे किसी भी मत पंथ, सम्प्रदाय, भाषा, जाति, वर्ण के क्यों न हों यही शिक्षा इस मन्त्र में दी गयी है।

जो व्यक्ति केवल अपने या अपने परिवार के ही स्वार्थों, लाभों को देखता है, यह नहीं विचारता है कि मेरे व्यक्तिगत थोड़े से लाभों के बदले में समाज, राष्ट्र के व्यक्तियों पर क्या बुरा प्रभाव, परिणाम पड़ेगा वह स्वार्थी है सामाजिक, राष्ट्रीय दृष्टि से अपराधी है।

मन्त्र में दूसरी बात कही गयी है कि हम ज्ञानी बनकर, सतर्क, सावधान होकर, बुद्धिमत्ता पूर्वक धरती माँ के द्वारा उपलब्ध पदार्थों का विधिवत् प्रयोग करके सुन्दर स्वास्थ्य को प्राप्त करें। हमारा रूप, रंग, आकार, बल, सुन्दर, आकर्षक, प्रभावशाली हो। केवल रूप, रंग, आकार आदि से ही श्रेष्ठ नहीं बल्कि हमारे शरीर में किसी भी प्रकार का कोई रोग भी न हो। हम पूर्णतः निरोगी बने रहें, सामान्य जीवनचर्या में किसी प्रकार की औषधि, चूर्ण, गोली, इन्जेक्शन, अरिष्ट, आसव, अवलेह की अपेक्षा न हो, सर्दी, गर्मी, वर्षा, आंधी, तूफान, भूख, प्यास, जागरण, अधिक परिश्रम, भाग-दौड़ की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कभी रुग्ण न बनें ऐसी सुदृढ़ रोग प्रतिरोधक शक्तियाँ हमारे शरीर में होनी चाहिए।

मन्त्र में अगली बात बताई गयी कि श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करते हुए उत्तम स्वास्थ्य वाले, निरोग शरीर वाले हम अल्पायु न होकर दीर्घ आयु अर्थात् न केवल १००-२०० अपितु ३००-४०० वर्ष तक की लम्बी आयु को प्राप्त करें। यह तभी संभव है जब जीवन में आदर्श दिनचर्या, प्रातः जागरण, भ्रमण, व्यायाम, स्नान, ईश्वर का ध्यान, यज्ञ, स्वाध्याय, सत्संग, सेवा, परोपकार आदि का अनुष्ठान करते हुए शान्त, प्रसन्न, निर्भीक, सन्तुष्ट रहने का अभ्यास करें।

अन्त में महत्त्वपूर्ण बात बतायी गयी कि हम मनुष्यों के लिए हर प्रकार का उपकार करने वाली धरती माँ को स्वच्छ, सुन्दर, सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए बुद्धिमत्ता पूर्वक योजनाएँ बनाकर परम पुरुषार्थ करें। इसके पर्यावरण को नष्ट होने से बचाने के लिए हर संभव प्रयास करें। जंगलों, वृक्षों को काटने, अनियंत्रित रूप में हानिकारक गैसों के उत्पादन में नियंत्रण करने, भूमि तथा जल को प्रदूषित होने से बचाने आदि कार्यों का संपादन दृढ़ता पूर्वक करें तो सस्यश्यामला पृथ्वी हमारे जीवन को स्वर्गमय बना देगी। हमने ही इसको विकृत, गन्दा, प्रदूषित किया है। हम ही इसे सुन्दर, स्वच्छ, सुगन्धित, निर्मल, पुष्टिकारी, बलदायिनी बनाकर अपना भला कर सकते हैं।

जंगलों को काटने, पशुओं को मारने, जल, वायु, आकाश, पृथ्वी को गन्दा करने के अपराधी हम ही हैं। हम ही अधिकाधिक वृक्ष लगाकर, पशु रक्षा करके, यज्ञ-हवन करके इसके वातावरण, पर्यावरण को पुनः शुद्ध, सुगन्धित व रोगों के कीटाणुओं से रहित बना सकते हैं।

जिस समाज व देश में राष्ट्र के व्यक्तियों के स्वास्थ्य, सुख-सम्पत्ति, चरित्र, जीवन को नष्ट करके अशान्ति, भय, भ्रान्ति, संशय, आतंक फैलाने वाली आसुरी शक्तियों का निर्भीकता, पराक्रम, बल के साथ विरोध नहीं किया जाता है तथा आसुरी शक्तियों को रोकने के लिए योजना नहीं बनाई जाती है और तन, धन, बल, जीवन का त्याग नहीं होता है वह धरती, वह राज्य, वह देश, वह संस्कृति, वह सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

ईश्वर से विनम्र, गद्-गद् होकर प्रार्थना है कि वह हमें उत्साहित करे, साहस, बल, पराक्रम प्रदान करे जिससे हम संगठित होकर मातृभूमि को विनष्ट करने वालों को रोकने में समर्थ होवें।

★★★

(२६)

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।।

यजुर्वेद २०/२५

शब्दार्थः – **यत्र** – जहाँ पर, **ब्रह्म** – आध्यात्मिक ज्ञानी, **च** – और, **क्षत्रम्** – बल युक्त शूरवीर, **सम्यञ्चौ** – दोनों साथ-साथ मिलकर, **चरतः** – चलते हैं, **च** – और, **यत्र** – जहाँ पर, **देवाः** – व्यवहार कुशल विद्वान् व्यक्ति, **सह अग्निना** – तेज के साथ कार्य करते हैं, **तम्** – उस, **लोकम्** – समाज/राष्ट्र को, **पुण्यम्** – पापरहित सुखी, **प्रज्ञेषम्** – समझता हूँ।

भावार्थ – इस मंत्र में समाज व राष्ट्र से अशान्ति, अव्यवस्था, भय, चिन्ता, आतंक आदि को दूर करने के तथा सर्वत्र शान्ति, प्रेम, विश्वास, निर्भीकता, सुख की स्थापना तथा वृद्धि के लिए क्या उपाय हैं वे बताये गये हैं। मन्त्र में बताया गया है कि ब्रह्म और क्षत्र को परस्पर मिलकर बुद्धिमत्ता पूर्वक योजना बनाकर दृढ़ता के साथ पुरुषार्थ करना चाहिए। ब्रह्म शब्द का अर्थ यहाँ पर उस व्यक्ति से है जो तेज, धर्म, कर्त्तव्य, सत्य, न्याय, आदर्श, त्याग, तप, संयम, सदाचार से युक्त हो और क्षत्र का अर्थ यहाँ पर उस व्यक्ति से ग्रहण किया गया है जो बल, पराक्रम, साहस, शूरता, वीरता, प्रगल्भता, न्याय, व्यवस्था, प्रबन्ध आदि गुणों से युक्त हो।

इन दोनों प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति परस्पर श्रद्धा, प्रेम, विश्वास, निष्ठा के साथ मिलकर समाज, राष्ट्र में व्याप्त चोरी, जारी, रिश्वत, जुआ, दुराचार, भ्रष्टाचार, आतंक, स्वेच्छाचार, लम्पटता, धूर्तता, पाखण्ड, अन्धविश्वास, स्वार्थपरता आदि दुष्ट प्रवृत्तियों को रोकने में समर्थ हो सकते हैं और समाज व राष्ट्र को स्वर्ग समान बना सकते हैं।

इन दोनों प्रकार के प्रकर्ष गुणों से युक्त ब्रह्म व क्षत्र शीर्षस्थ व्यक्तियों को अपने साथ देवों को विश्वास में लेकर चलना चाहिए

तथा उनसे परामर्श लेना चाहिए। देव का अर्थ है उत्तम कोटि के व्यक्ति जो बुद्धिमान्, विवेकी, हानि-लाभ को जानने वाले, कार्यों के परिणामों, प्रभावों को समझने वाले हों। ऐसे व्यक्तियों की सभा बनानी चाहिए। उनको अपने कार्यों के महत्त्व, उपयोगिता, लाभों को अच्छी प्रकार दर्शाकर उनका पूर्ण समर्थन प्राप्त करना चाहिए।

जो ब्राह्म धर्म से सम्पन्न हैं उनका राष्ट्र में सर्वाधिक सम्मान होना चाहिए। तत्पश्चात् जो क्षात्र धर्म से युक्त है उनका सम्मान होना चाहिए। समाज, राष्ट्र में नैतिकता, सदाचार की स्थापना हेतु नीति-निर्धारण, नियम-विधिविधान के निर्माण का कार्य ब्रह्म का है किन्तु उन नियमों को क्रियान्वित करवाना उसकी व्यवस्था करना तथा जो नियमों का उल्लंघन करे उनको न्याय पूर्वक दण्ड देकर अनुशासन में रखने का कार्य क्षत्र का है।

सामान्य मनुष्यों का यह स्वभाव होता है कि वे अपने पर अनुशासन, नियम को पसन्द नहीं करते हैं, दायित्वों को भी लेना नहीं चाहते हैं। इन सब से बन्धन की, पराधीनता की स्थिति बनती है, ऐसा उनको लगता है। यदि किसी प्रकार से उन पर नियम, कानून, अनुशासन प्रतिबन्ध लगाये हों तो येन केन प्रकारेण उस बन्धन को तोड़ना चाहते हैं व ऐसा प्रयास करते हैं। यदि नियम तोड़ते हुए रंगे हाथों पकड़े गये तो उससे बचना चाहते हैं, त्रुटि-भूल स्वीकार नहीं करते हैं और त्रुटि-भूल माननी भी पड़े तो दण्ड लेना नहीं चाहते हैं। इसलिए वेदों में विधान किया गया कि आदर्शों व नैतिकता का परिपालन तभी हो सकता है जब लाल आँख वाला राज्याधिकारी हाथ में काले रंग का दण्डा लेकर नियमों का उल्लंघन करने वाले दुष्ट जनों की प्रताड़ना करे, दण्ड दे। बल्कि राष्ट्रीय जनहित कल्याणकारी कार्यों को अभिमान के कारण या स्वार्थ के कारण नष्ट करने वालों को या इन कार्यों में बाधा पहुँचाने वाले असुरों (दुष्टों) को तो सार्वजनिक रूप में जनता को एकत्रित करके उनके समक्ष कठोर से कठोर दण्ड देना चाहिए। वैदिक संविधान की प्रामाणिक पुस्तक मनुस्मृति के अनुसार

तो जघन्य हिंसा करने वाले व्यक्तियों को शीघ्र से शीघ्र लाल रंग के अग्नि से तपे हुए लोहे के पलंग पर लिटाना चाहिए अथवा नंगा करके कुत्तों या भेड़ियों से नुचवाना चाहिए अथवा फांसी देनी चाहिए। इतना कठोर दण्ड इसलिए दिया जाता है कि जिसको देखकर अन्य लाखों व्यक्तियों के मन में कदापि इस प्रकार का क्रुर कर्म करने का विचार भी उत्पन्न न हो। वे दण्ड के भय के कारण अधर्म के कर्मों से बचे रहें।

जब समाज में हिंसक कर्म करने वालों को उचित मात्रा में दण्ड नहीं मिलता है, या कम मिलता है, या देरी से मिलता है अथवा वे किसी प्रकार से बच जाते हैं तो अन्यों को भी बुरे कर्म करने में भय नहीं लगता है वे भी बुरे कर्म करने का दुःसाहस करते हैं। राष्ट्र में, समाज में स्वर्ग (विशेष सुख-शांति) की स्थापना करने के लिए केवल प्रबुद्ध, बलिष्ठ, ब्रह्मतेज या क्षात्र तेज से युक्त राज्याधिकारी, प्रधान, मंत्री, धारासभ्य, सांसद, विधिवेत्ता व्यक्ति ही नेतृत्व कर सकते हैं। किन्तु जन सामान्य में नागरिक-ग्रामीण व्यक्ति अपनी भूमिका न निभायें तो भी सफलता नहीं मिलती है।

सभ्य, शिष्ट, जागरूक, विवेकी व्यक्तियों को चाहिए कि वे भी खुलकर असत्य, अन्याय, अधर्म आदि का खण्डन करें और धर्म, सत्य, आदर्श, न्याय का समर्थन करें। यदि सामान्य व्यक्ति भी अपने कर्त्तव्यों को, दायित्वों को, अधिकारों को जानकर थोड़ा सा समय, धन, बुद्धि, बल लगाकर सामूहिक रूप में असत्य का, अनादर्शों का खण्डन करते हैं तो अधर्मी, दुःसाहसी, हतोत्साहित होकर अनिष्ट करने से रुक जाते हैं।

परमपिता परमात्मा हमें अध्यात्म ज्ञान तथा शारीरिक, भौतिक बल प्रदान करें जिससे हम आज आसुरी शक्तियों के विध्वंस से समाज, राष्ट्र को शीघ्र ही बचाने में समर्थ हो जायें। ऐसी ईश्वर से प्रार्थना है।

★★★

(३०)

विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवो
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता
विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन।।

ऋग्वेद १/४/१०/८

शब्दार्थः - **विजानीहि** - जानो, **आर्यान्** - श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वालों को, **ये च** - और जो, **दस्यवः** - हिंसादि दोषयुक्त बुरे गुण-कर्म-स्वभाव वाले हैं, **बर्हिष्मते** - जो सर्वकल्याणकारी कार्यों में बाधा पहुँचाने वाले हैं, **रन्धय** - उनको नष्ट करें, **अव्रतान्** - जो अनाचारी हैं उन पर, **शासद्** - पूर्ण नियंत्रण करो, **शाकी** - आप शक्तिशाली हैं, **यजमानस्य** - उत्तम कार्य करने वाले को, **चोदिता** - प्रेरणा देने वाले, **भव** - हो, **विश्वा** - सारे, **सधमादेषु** - परोपकारी कार्यों में, **इत् ता** - उन कार्यों की सफलता के लिए, **ते** - आपके, **चाकन** - सहयोग की हम अपेक्षा करते हैं।

भावार्थ - इस मन्त्र में देश के शासनाधीशों को निर्देश किया गया है कि वे राज्य का सफल संचालन किस प्रकार से करें। सर्वप्रथम यह बात बतायी गयी कि राज्याध्यक्षों, मंत्रियों, नेताओं, सुरक्षाकर्मियों या अन्य राज्यनायकों को चाहिए कि वे जनता में जाकर या अन्य माध्यमों से यह पता लगायें कि कौन आर्य हैं और कौन अनार्य। ईश्वर ने मनुष्यों के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार केवल दो प्रकार के विभाग बनाये हैं - १. आर्य, २. अनार्य।

प्रथम श्रेणी है आर्य की - जो आकाश के समान व्यापक, वायु के समान निराकार, सूर्य के समान प्रकाशवान् है, जो समस्त

ब्रह्माण्ड की रचना करता है, उसका पालन करता है तथा समय आने पर विध्वंस करता है, जो समस्त जीवों के कर्मों का फल देता है, ऐसे ईश्वर की सत्ता को मानने वाले तथा उसकी नित्यप्रति कम से कम दो बार शान्त, एकान्त स्थान में बैठकर उसकी उपासना, ध्यान करने वाले व्यक्ति को आर्य कहते हैं। जो किसी भी अन्य व्यक्ति को अन्याय पूर्वक, अभिमान में आकर, स्वार्थ की पूर्ति के लिए ताड़ना नहीं करता है, भर्त्सना नहीं करता है, कठोर नहीं बोलता है, दण्ड नहीं देता है, हिंसा नहीं करता है, जो दूसरे किसी की वस्तु को भी लेने की मन में इच्छा उत्पन्न नहीं करता है।

जो कभी भी वचन देकर विश्वासघात नहीं करता है, जो अपने सम्पूर्ण उत्तरदायित्व को पूर्ण पुरुषार्थ, त्याग, तपस्या के साथ निभाता है, जो अपने सभी कार्यों को लाभ-हानि का अनुमान लगाकर परिणामों, प्रभावों का विचार करके करता है, जो अपने मन व इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है जो कभी भी विषय लम्पट नहीं बनता है, जो अपने ही स्वार्थ को न देखकर पहले अन्यों की आवश्यकताओं, अपेक्षाओं को पूरा करके अपने कामों को करता है, जो सदा उत्तम कार्यों में तन-मन-धन से सहयोग करता हो तथा अन्यों को भी प्रेरित करता है, जो राष्ट्रभक्त, राष्ट्रसेवक, सदाचारी, दूरदर्शी, विवेकी, सरल, निरभिमानी हो उसे **आर्य** समझना चाहिए।

इसके विपरीत दूसरी श्रेणी है **अनार्य** की - जो व्यक्ति नास्तिक हैं, ईश्वर को न मानने वाले हैं, गलत ईश्वर को मानने वाले हैं, अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्यों को अनेक प्रकार से प्रताड़ित करने वाले हैं, दण्ड देने वाले हैं, दूसरों की निन्दा, भत्सर्ना करने वाले हैं, उन्हें दुःख देने वाले हैं तथा अन्यों के पदार्थों का छल, कपट, चालाकी, झूठ से हरण करने वाले हैं, अभिमान से ग्रस्त होकर विरोध, वैर, विवाद, लड़ाई, झगड़ा, हिंसा

करने वाले हैं, अपनी तृष्णाओं की पूर्ति के लिए खाद्य पदार्थों में मिलावट करने वाले हैं। मूक, असहाय, निरीह पशु-पक्षियों को अपने पेट को भरने के लिए तड़पा-तड़पा कर मारने वाले हैं।

अपने से भिन्न मत, पंथ, सम्प्रदाय वालों को नीच, हेय, घृणित मानने वाले हैं, मारने योग्य मानने वाले हैं, बहु विवाह करने वाले हैं, भोजन, वस्त्र, भवन, शिक्षा, चिकित्सा आदि मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ होते हुवे भी अधिक सन्तानों को उत्पन्न करने वाले हैं, सत्य-असत्य की परीक्षा किये बिना अन्धविश्वास, झूठ, छल, कपट, पाखण्ड, अवैज्ञानिक, प्रकृति के विरुद्ध बातों को मानने-मनवाने वाले हैं, अपने पद, प्रतिष्ठा, सम्मान, धन, वैभव, ऐश्वर्य, सुविधाओं की प्राप्ति, रक्षा के लिए किसी भी प्रकार का अनैतिक कार्य करने वाले हैं, समाज, राष्ट्र की सुरक्षा, नियमन, व्यवस्था, प्रबन्ध, संचालन, पालन की प्रतिज्ञा करके भी राष्ट्रघाती कार्यों को करने वाले हैं, अपने सुख, सुविधाओं, ऐश्वर्य, धन प्राप्ति के लिए समस्त समाज के चरित्र का नाश करने वाले चलचित्र, पत्र-पत्रिका, सी.डी., डी.वी.डी, समाचार पत्र का निर्माण करके व उनका वितरण, प्रदर्शन एवं विक्रय करने वाले हैं, वे अनार्य कहलाते हैं।

इसके अतिरिक्त जो भी राष्ट्रघाती कुकृत्यों को करने वाले व्यक्तियों का समर्थन, रक्षण, पैरवी करने वाले हैं और राष्ट्र के निवासी मनुष्यों की शारीरिक हानि करके उन्हें रोगी, निर्बल बनाने वाले जहरीला अन्न, शाक, फल, फूल, कन्द, मूल, वनस्पति, औषधि, मद्य आदि मादक द्रव्यों का उत्पादन करने वाले हैं, उनका व्यापार, वितरण, विक्रय करने वाले हैं वे सभी अनार्य है।

वेद कहता है कि श्रेष्ठ गुण-कर्म-स्वभाव वाले आर्य सज्जन की हर प्रकार से उन्नति, रक्षा करके सम्मान करना चाहिए तथा उन्हें पुरस्कार देना चाहिए और जो अनार्य दुष्ट,

गुण-कर्म-स्वभाव वाले हैं उनको तत्काल बिना देर के दण्ड देना चाहिए तथा इनके कुकृत्यों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जो सहयोगी होते हैं उनको भी यथायोग्य दण्ड देना चाहिए। उन्हें कारागार में परिश्रम करवा कर उनकी धन-सम्पत्ति, सुख-सुविधाओं, अधिकारों को छीन लेना चाहिए।

परमपिता परमात्मा हमको बुद्धि, शक्ति, सामर्थ्य, प्रेरणा प्रदान करें कि हम आर्य बनें तथा जो अभिमान से युक्त होकर मानवता के नाशक, राष्ट्रघाती, अनिष्ट कार्यों को करने वाले बने हुए हैं उनको रोकने के लिए हम संगठित होवें, योजना बनावें एवं पूर्ण प्रयास करें और धरती को स्वर्ग बनावें।

★★★

(३१)

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि।। ऋग्वेद १०/१९१/३

शब्दार्थः - **समानं** - एक समान होना चाहिए, **मन्त्रः** - विचार, **समिति** - सभा, संगति, **समानी** - एक जैसी होनी चाहिए, **समानं मनः** - मन भी एक समान होने चाहिए और, **सहचित्तम् एषाम्** - इन सभा के व्यक्तियों की समझ भी एक जैसी होनी चाहिए, **वः** - तुम मनुष्यों को, **समानं** - एक समान ही, **मन्त्रम्** - वेद मन्त्र प्रदान करता हूँ और, **अभिमन्त्रये** - शुभ आशीर्वाद देता हूँ, **समानेन वः** - तुम सभी मनुष्यों को समान रूप से, **हविषा** - योग्य वस्तुएँ, **जुहोमि** - बनाकर देता हूँ।

भावार्थ - सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बनाने वाला एक ही ईश्वर है, दो-चार, दस-बीस नहीं। उसी ने हम सभी मनुष्य आदि प्राणियों के भोग के लिए यह पृथ्वी तथा इसमें विद्यमान सभी वस्तुएँ बनायी हैं। वह ईश्वर सभी जीवों को सृष्टि के आदि में समान रूप से सूक्ष्म शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि बनाकर देता है। उसी ने सभी मनुष्यों को सृष्टि के प्रारम्भ में ही चारों वेदों का ज्ञान दिया और इसे सबको पढ़ने का भी अधिकार दिया। सूर्य, चन्द्रमा, धरती, समुद्र, नदियाँ, पहाड़, जंगल, वृक्ष, वनस्पति, अन्न, कन्द, मूल, फल आदि सभी मनुष्यों को बिना पक्षपात के समान रूप से भोगने को दिये हैं। ईश्वर की बनायी हुई इन सभी वस्तुओं को भोगने का सबका समान रूप से अधिकार है।

सभी मनुष्यों को समान रूप से प्रदत्त यह पृथ्वी तथा इसमें विद्यमान पदार्थों को कुछ स्वार्थी, चतुर, चालाक, बलशाली लोगों ने युद्ध करके झूठ, छल, कपट, हिंसा, भय, आतंक, अन्याय, पक्षपात आदि कुनीति का सहारा लेकर अधिग्रहित कर लिया। इतना ही नहीं इन्हीं छल, कपट, बल, भय, चालाकी आदि के माध्यम से अज्ञानी, भोले, सरल लोगों को पराधीन बनाया और उनका शोषण भी किया। धन, सम्पत्ति, साधन, सुविधाएँ, भोग, ऐश्वर्य सामग्री को अधिकाधिक प्राप्त करने के लिए न जाने क्या क्या अपराध, कुकर्म, किये। उनके इतिहास को पढ़, सुन, जान कर अत्यन्त लज्जा आती है, मन में रोष भी उत्पन्न होता है।

इस पृथ्वी के भोग्य पदार्थ, जिस पर सबका समान रूप से अधिकार है, कुछ स्वार्थी लोग येन केन प्रकारेण अधिकाधिक साधनों के स्वामी बनकर अन्यों की अपेक्षा अनेक गुनी भोग्य सामग्री का उपभोग करते हैं। जबकि दूसरी तरफ लाखों-करोड़ों व्यक्तियों की जीवन यापन की प्राथमिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं होती है। एक तरफ अत्यन्त ऐश्वर्य, भोग-विलास की सामग्री उपलब्ध है, बल्कि अपव्यय हो रहा है। दूसरी तरफ पेट की आग बुझाने के लिए भोजन, पानी, तन के नंगेपन को दूर करने के लिए वस्त्र तथा सर्दी-गर्मी-वर्षा से बचकर सोने के लिए छोटा सा प्रकोष्ठ भी उपलब्ध नहीं है, कहीं पर तो बच्चों को सुरक्षित, शिष्ट, सभ्य, योग्य नागरिक बनाने के लिए एक व्यक्ति पर लाखों रुपये खर्च होते हैं तो कहीं पर शिक्षा का कोई अवसर भी नहीं मिलता है।

आदिकालीन सत्य सनातन वैदिक धर्म की मान्यता यह है कि पृथ्वी पर सभी को समान रूप से भोग्य सामग्री तभी उपलब्ध हो सकती है जब सारे विश्व के लोग परस्पर मिलकर अपने अपने विचारों, सिद्धान्तों, मान्यताओं को रखें और उनमें जो सत्य हो, श्रेष्ठ हो, सबके लिए हितकारी हो वही स्वीकार करें।

जब तक विश्व में एक अखण्डित समस्त भूखण्डों का चक्रवर्ती साम्राज्य नहीं होगा, जब तक समस्त विश्व के मनुष्यों का एक संविधान, एक भाषा, एक ईश्वर, एक पूजा पद्धति, एक मन्त्र, एक अभिवादन, एक हानि-लाभ, एक शिक्षा प्रणाली, एक न्याय व्यवस्था नहीं होगी, जब तक विश्व के देशों की सीमायें नहीं मिटेंगी, सभी व्यक्ति एक दूसरे को अपना भाई-बहिन नहीं मानेंगे तब तक मनुष्य विश्व में पूर्ण शान्ति, सुख, निर्भीकता, स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं कर सकेंगे।

यह संसार और इसमें रहने वाले मनुष्य १,९६,०८,५३,१११ वर्ष पुराने हैं। ५००० वर्ष पूर्व तक सारा विश्व एक ही साम्राज्य था। अब भी हम तुच्छ स्वार्थ की भावनाओं से ऊपर उठकर, विशाल हृदय वाले बनकर परस्पर की घृणा, ऊँच-नीच का, रंग-रूप का, भाषा-भूषा का भेदभाव मिटाकर एक ईश्वर को अपना पिता मानकर सभी भाई-भाई बन जायें तो विश्व में पुनः स्वर्ग की स्थापना हो सकती है। यह कार्य कठिन अवश्य है परन्तु असाध्य नहीं है।

ईश्वर करे विश्व के सभी प्रबुद्ध धर्माचार्य, राज्याधिकारी, विद्वान्, विशिष्ट व्यक्ति इस ओर प्रयास करें और सारा विश्व एक कुटुम्ब बन जाये और सभी लोग समान रूप से उन्नति करें तथा वे सुख-शान्ति को प्राप्त करें। यही हमारी हार्दिक भावना है, जिसे ईश्वर पूरी करें।

★ ★ ★